॥ श्रीहरि: ॥

283 ▲

शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥

283

शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ

जयदयाल गोयन्दका

श्रीहरिः

निवेदन

हमारे पाठक पूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे भलीभाँति परिचित हैं। इस पुस्तकमें उन्हींकी लिखी हुई शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ प्रकाशित की जा रही हैं। ये 'कल्याण'में समय-समयपर प्रकाशित हो चुकी हैं। यद्यपि कहानियोंमें केवल कला देखनेवालोंको इनसे निराश होना पड़ेगा और उनके लिये ये लिखी भी नहीं गयी हैं, परंतु जो गृहस्थ या साधक अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नति चाहते हैं और जो परमार्थपथके पथिक हैं, उनके लिये इन सरल भाषामें लिखी हुई सुन्दर कहानियोंमें उत्तम-से-उत्तम उपदेश तथा आदर्श प्राप्त हो सकते हैं। मेरी प्रार्थना है, सब लोग इन कहानियोंसे लाभ उठायें।

प्रार्थी

हनुमानप्रसाद पोद्दार

——★——

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ-संख्या
१—योगक्षेमका वहन	...	१
२—निष्कामता	...	१५
३—गीताके श्लोकके अर्थ और रहस्यका भेद	...	२७
४—भगवन्नाम अमूल्य है	...	३६
५—भगवान्‌के शीघ्र मिलनेमें भाव ही प्रधान साधन है	...	४५
६—प्रवीरका अलौकिक भगवत्प्रेम	...	५२
७—संसार-वाटिका	...	६७
८—भगवान् छप्पर फाड़कर देते हैं	...	७२
९—परमानन्दकी खेती	...	८०
१०—समता अमृत और विषमता विष है	...	८६
११—ईश्वर दयालु और न्यायकारी है	...	९७

═══ ★ ═══

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ

योगक्षेमका वहन

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

कोई-कोई इस श्लोकका सर्वथा सकाम और निवृत्तिपरक अर्थ करते हैं और संसारयात्राकी कुछ भी चिन्ता न कर केवल भगवान्पर निर्भर रहते हुए भजन करना ही उचित मानते हैं। इसपर वे निम्नलिखित दृष्टान्त दिया करते हैं।

एक ईश्वरभक्त गीताभ्यासी निवृत्तिप्रिय ब्राह्मण थे। वे अर्थको समझते हुए समस्त गीताका बार-बार पाठ करने एवं भगवान्के नामका जप तथा उनके स्वरूपका ध्यान करनेमें ही अपना सारा समय व्यतीत करते थे। वे एकमात्र भगवान्पर ही निर्भर थे। जीविकाकी कौन कहे, वे अपने खाने-पीनेकी भी परवाह नहीं करते थे। उनके माता-पिता परलोक सिधार चुके थे। वे तीन भाई थे। तीनों ही विवाहित थे। वे सबसे बड़े थे और दो भाई छोटे थे। दोनों छोटे भाई ही पुरोहितवृत्तिके द्वारा गृहस्थीका सारा काम चलाया करते थे। एक दिनकी बात है, दोनों छोटे भाइयोंने बड़े भाईसे कहा—'आप कुछ

समय जीविकाके लिये भी निकाला करें तो अच्छा रहे।' बड़े भाई बोले—'जब सबका भरण-पोषण करनेवाले विश्वम्भर भगवान् सर्वत्र सब समय मौजूद हैं तब अपनी जीविकाकी चिन्ता करना तो निरा बालकपन है। भगवान्ने गीताके नवम अध्यायके बाईसवें श्लोकमें स्वयं योगक्षेमके वहनका जिम्मा लिया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

इसलिये 'भाई! हमलोगोंको तो बस, अपने भगवान्पर ही निर्भर रहना चाहिये। वे ब्रह्मासे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र जीव-परमाणुतक—सभीका भरण-पोषण करते हैं। फिर जो उनके भरोसे रहकर नित्य-निरन्तर उन्हींका स्मरण-चिन्तन करता है, उसका योगक्षेम चलानेके लिये तो वे वचनबद्ध ही हैं। हमलोगोंको तो नित्य गीताका अध्ययनाध्यापन और निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन-स्मरण ही करना चाहिये।'

दोनों भाइयोंने कहा—'भाई साहेब! आपका कहना तो ठीक है, पर जीविकाके लिये कुछ भी चेष्टा किये बिना, भगवान् किसीको घर बैठे ही नहीं दे जाते।' बड़े भाईने विश्वासके साथ उत्तर दिया—'श्रद्धा-विश्वास हो तो घर बैठे भी भगवान् दे सकते हैं।' दोनों छोटे भाइयोंने कुछ झुंझलाकर कहा—'भाई साहेब! बातें बनानेमें कुछ नहीं लगता। हमलोग कमाकर लाते हैं तब घरका काम चलता है। आप केवल पड़े-पड़े श्लोक रटना और बड़ी-बड़ी बातें बनाना जानते हैं। आपको पता ही नहीं, हमलोग कितना परिश्रम करके कुछ जुटा पाते हैं। आप जब हमलोगोंसे अलग होकर घर चलायेंगे, तब पता लगेगा; तब हम देखेंगे कि जीविकाके लिये प्रयत्न किये बिना आपका काम कैसे चलता है।' बड़े भाईने धीरजके साथ कहा—'भाई!

तुमलोग यही ठीक समझते हो तो बहुत आनन्द। मुझे अलग कर दो। मैं किसीपर भाररूप होकर नहीं रहना चाहता। भगवान् किस प्रकार मेरा निर्वाह करेंगे, इसे वे खूब जानते हैं।' इसपर दोनों भाई निश्चिन्त-से होकर बोले—'बहुत ठीक है। कल ही हम सबको अपने-अपने हिस्सेके अनुसार बँटवारा कर लेना चाहिये।' बड़े भाईने कहा—'जिस प्रकार तुमलोग उचित समझो, उसी प्रकार कर सकते हो; मेरी ओरसे कोई आपत्ति नहीं है। मैं तो तुमलोगोंकी राजीमें ही राजी हूँ।'

दूसरे ही दिन दोनों भाइयोंने, जो कुछ सामान-सम्पत्ति थी, सबके तीन हिस्से कर दिये। ब्राह्मण भक्तके हिस्सेमें एक छोटा-सा कच्चा मकान, कुछ नकद रुपये और कुछ साधारण गहने-कपड़े तथा रसोईके बर्तन आदि आये। तीसरे हिस्सेकी यजमानोंकी वृत्ति भी उनके हिस्सेमें दे दी गयी। पर यजमानोंका यह हाल था कि उनके पास यदि कोई पुरोहित चला जाता तो भले ही उनसे कुछ ले आता; घर बैठे पुरोहित महाराजको कोई याद नहीं करता।

इस प्रकार जब तीनों भाई अलग-अलग हो गये, तब उस ब्राह्मण भक्तने अपनी पत्नीसे कहा—'मेरे भाइयोंने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, वह बहुत ही संतोषजनक है; किंतु अब हमें इस बातका पूरा ध्यान रखना चाहिये कि हम केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करें। किसीके भी घर जाकर कभी भी याचना न करें और न किसीके देनेपर ही कुछ ग्रहण करें। भगवान् स्वयं योगक्षेम वहन करनेवाले हैं, वे ही हमारा योगक्षेम चलायेंगे। भाइयोंने जो कुछ दिया है, अभी तो उसीसे काम चलाना चाहिये।'

ब्राह्मणी ईश्वरकी भक्त और पतिव्रता थी। उसने पतिकी बात बड़े आदरके साथ स्वीकार की। उसने सोचा—'अभी तो निर्वाहके लिये

कुछ हाथमें है ही। इसके समाप्त होनेके बाद स्वामी जैसा उचित समझेंगे, अपने-आप ही व्यवस्था करेंगे।'

वे भगवद्भक्त ब्राह्मण प्रातःकाल चार बजे ही उठते और शहरसे एक मील दूर एक तालाबपर जाकर शौच-स्नान करते। फिर संध्या-वन्दनके अनन्तर भगवान्‌की मानस-पूजा, जप, ध्यान करके सम्पूर्ण गीताका भावसहित अर्थको समझते हुए पाठ किया करते; इसके बाद दिनमें ग्यारह बजे घर लौटकर भोजनादि करते। भोजन करनेके पश्चात् पुनः दोपहरमें एक बजे वापस वहीं तालाबपर जाकर जप, ध्यान, स्वाध्याय करते। फिर सायंकाल चार बजे शौच-स्नान करके संध्या-वन्दन करते। तदनन्तर मानस-पूजा करके सत्-शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करते। सूर्यास्तके बाद भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान किया करते थे। अन्तमें रातको आठ बजेके बाद घर लौटकर भोजन करते और फिर अपनी पत्नीसे सदालाप करके दस बजे शयन किया करते । उनकी साध्वी धर्मपत्नी भी दोनों समय पतिको भोजन कराकर स्वयं भोजन करती और प्रतिदिन पतिको नमस्कार करना, उसकी सेवा-शुश्रूषा करना, उनकी आज्ञाका पालन करना तथा ईश्वरका भजन-ध्यान करना अपना परम कर्तव्य समझती थी। इस प्रकार दोनोंका समय बीतता था। प्रतिदिन व्यय तो होता ही था। कुछ दिनोंमें उनके पास जो कुछ रुपये-पैसे थे, सब समाप्त हो गये। पत्नीने स्वामीसे कहा—'रुपये सब पूरे हो गये हैं।' पतिने पूछा—'क्या गहने-कपड़े भी समाप्त हो गये ?' पत्नीने कहा—'नहीं।' इसपर ब्राह्मणीने सोचा—अभी गहने-कपड़ोंसे काम चलानेकी स्वामीकी सम्मति है। अतएव वह उन्हें बेचकर घरका काम चलाने लगी। पर वे गहने-कपड़े भी कितने दिनके थे। वे भी समयपर शेष हो गये। फिर एक दिन पत्नीने कहा—'गहने-कपड़े भी सब

समाप्त हो गये हैं।' पतिने कहा—'कोई चिन्ता नहीं, अभी बर्तन-भाँड़े और मकान तो हैं ही।' इससे ब्राह्मणीने समझा कि अभी स्वामीकी सम्मति मकान और बर्तनोंसे काम चलानेकी है। उसने प्रसन्नतासे मकानको बेच दिया और वे दूसरे किरायेके मकानमें चले गये। कुछ दिन इससे काम चला। इसके बाद बर्तन-भाँड़े भी बेच दिये, पर उनसे क्या होता। अन्तमें ब्राह्मणीके पास तन ढाँकनेके लिये एक साड़ी बची और ब्राह्मण देवताके लिये एक धोती और एक गमछा बचा। एक दिन ब्राह्मण देवता जब प्रातः चार बजे जंगलकी ओर जाने लगे, तब पत्नीने बड़े विनीत-भावसे हाथ जोड़कर निवेदन किया—'स्वामिन्! अब सब कुछ शेष हो गया है। घर तो किरायेका है, बर्तन-भाँड़े भी सब समाप्त हो चुके हैं। केवल आपकी यह गीताजीकी पोथी, धोती, गमछा और मेरी एक साड़ी बची है। आज भोजनके लिये घरमें अन्न भी नहीं है। जो कुछ था, कल शेष हो गया। ब्राह्मणने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे सदाकी भाँति जंगलकी ओर चल दिये।

सदाकी भाँति ही पंडितजी तालाबपर गये और शौच-स्नानसे निवृत्त हो उन्होंने संध्या-गायत्री-जप आदि नित्यकर्म किया। उसके अनन्तर जब वे गीताका पाठ करने लगे, तब उनके सामने वह अपना इष्ट श्लोक आया—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९।२२)

उस दिन पंडितजी इस श्लोकको पढ़कर चौंक पड़े और इसे पढ़ते हुए मन-ही-मन विचार करने लगे कि 'मालूम होता है, इस श्लोकमें भगवान्‌के वचन नहीं हैं, शायद क्षेपक होगा। यदि यह

भगवान्‌का कथन होता तो भगवान् क्या मेरी सँभाल नहीं करते ? मैं तो सर्वथा उन्हींपर निर्भर हूँ। उन्होंने आजतक मेरी सुधि जरा भी नहीं ली।' यह समझकर ब्राह्मणने उस श्लोकपर हरताल लगा दी और वे उस श्लोकको छोड़कर गीताका पाठ करने लगे।

ब्राह्मण देवताके हृदयके इस भावको देखकर सर्वहृदयेश्वर भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् तुरंत एक विद्यार्थीके रूपमें घोड़पर सवार होकर ब्राह्मणके घर उनकी धर्मपत्नीके पास पहुँचे और मिठाईका एक थाल भेंटमें रखकर पूछने लगे—'गुरुजी कहाँ हैं ?' ब्राह्मण-पत्नीने कहा—'यहाँसे एक मील दूर एक तालाब है, वे प्रतिदिन वहाँ शौच-स्नान और नित्यकर्मके लिये जाते हैं और लगभग ग्यारह बजे लौटते हैं, अभी दस बजे हैं, उनके आनेमें एक घंटेकी देर है। आप कौन हैं और यह मिठाई किसलिये लाये हैं ?' विद्यार्थीने उत्तर दिया—'मैं पंडितजीका शिष्य हूँ और गुरुजीकी तथा आपकी सेवाके लिये यह मिठाई लाया हूँ। इसे आप रख लें।' ब्राह्मण-पत्नीने कहा—'पंडितजी न तो किसीको शिष्य ही बनाते हैं और न किसीकी दी हुई वस्तु ही लेते हैं। मुझको भी उन्होंने किसीकी वस्तुको स्वीकार न करनेकी आज्ञा दे रखी है। इसलिये मैं किसीकी दी हुई कोई वस्तु नहीं ले सकती। इसे आप ले जाइये।' विद्यार्थीने कहा—'आप जैसा कहती हैं, वैसा ही मैं भी मानता हूँ। वे किसीको भी शिष्य नहीं बनाते, यह बात भी सही है। मुझको छोड़कर उन्होंने न तो किसीको शिष्य बनाया है और न बनायेंगे ही। मुझपर उनकी विशेष कृपा है, इसीसे मुझको उन्होंने शिष्य माना है। केवल मैं एक ही उनका शिष्य हूँ, इसके लिये मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ।' ब्राह्मण-पत्नीने कहा—'मैंने तो यह बात कभी नहीं सुनी कि उन्होंने आपको शिष्य बनाया है। मैं तो जानती हूँ कि उन्होंने किसीको

शिष्य बनाया ही नहीं है, फिर मैं इस बातको कैसे मान लूँ कि आप उनके शिष्य हैं। जो भी कुछ हो, मैं इस मिठाईको किसी हालतमें भी स्वीकार नहीं कर सकती। पंडितजीके लौटनेपर आप उन्हें दे सकते हैं।' विद्यार्थीने कहा—'अच्छा, यह थाली यहाँ रखी है और मेरा घोड़ा भी यहीं बँधा है। मैं लौटकर पंडितजीसे मिल लूँगा।' इसपर ब्राह्मण-पत्नीने उत्तर दिया—'आप इस थालीको वापस ले जाइये, पंडितजीके आनेपर आप फिर ला सकते हैं। मैं पंडितजीकी आज्ञाके बिना इसे किसी हालतमें नहीं रख सकती।' किंतु वे भगवान् तो विचित्र ठहरे। वे थालीको वहीं छोड़कर चल दिये। चलते समय ब्राह्मण-पत्नीने पूछा—'अपना नाम-पता तो बतला दीजिये, जिससे पंडितजीके आनेपर यह मिठाईकी थाली आपके घर वापस पहुँचा दी जाय।' विद्यार्थीने कहा—'वे मुझे जानते हैं। उनकी मुझपर अत्यन्त कृपा है; क्योंकि मैं उनका एक ही शिष्य हूँ। मेरे सिवा दूसरा कोई शिष्य है ही नहीं। आप कह दीजियेगा कि आज प्रातःकाल जिसके मुँहपर आपने हरताल पोती थी, वही शिष्य आया था। इससे वे समझ जायँगे।' इतना कहकर भगवान् चलते बने।

एक घंटेके बाद पंडितजी जंगलसे वापस लौटे और घरमें प्रवेश करते ही देखा कि एक थाली मिठाईसे भरी रखी है। पंडितजीने कुछ उत्तेजित-से होकर पूछा—'यह मिठाई कहाँसे आयी, किसने दी और क्यों रखी गयी ?' ब्राह्मण-पत्नीने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक उत्तर दिया—'स्वामिन् ! मैंने नहीं रखी है। एक विद्यार्थी जबरन् इसे रख गया। वह कहता था कि मैं गुरुजीकी सेवाके लिये लाया हूँ। इसपर भी मैंने स्वीकार नहीं किया। परंतु वह जबरन् छोड़कर चला ही गया।' ब्राह्मणने कहा—'तुम तो इस बातको जानती हो कि मैंने न तो आजतक किसीको शिष्य बनाया है और न बनाता ही हूँ।' पत्नीने

कहा—'यह बात सत्य है। मैंने भी उससे कहा कि न तो पंडितजीने किसीको शिष्य बनाया है, न बनाते हैं और न बनायेंगे।' इसपर उसने मेरी बातका समर्थन करते हुए कहा कि 'मैं इस बातको जानता हूँ। गुरुजीने मुझको छोड़कर किसीको शिष्य नहीं बनाया और न बनायेंगे। एकमात्र मैं ही उनका शिष्य हूँ। मुझपर उनकी विशेष दया है। इसीलिये मुझको उन्होंने शिष्य स्वीकार किया है। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि यह मेरी बात सच्ची माननी चाहिये।' इसपर भी मैंने तो यही कहा कि 'मैंने यह कभी नहीं सुना कि आपको उन्होंने शिष्य बनाया है। जो भी हो, मैं उनकी आज्ञाके बिना यह भेंट नहीं रख सकती, परंतु वह रखकर चल दिया।' पंडितजीने कहा—'उसका नाम-पता तो पूछना चाहिये था, जिससे उसके घर उसकी चीज वापस लौटा दी जाती।' ब्राह्मण-पत्नीने कहा—मैंने पूछा था; तब उसने यह कहा कि मुझको गुरुजी जानते हैं। आज प्रातःकाल ही उन्होंने मेरे मुँहपर हरताल पोती है, मुझे इतनी ही देरमें वे थोड़े भूल जायँगे। आप कह दीजियेगा कि जिसके मुँहपर आज प्रातःकाल हरताल पोती थी, वही आपका एकमात्र शिष्य भेंट दे गया है। बस, इतना कहकर वह चला गया और कह गया कि मिठाईकी थाली यहीं रखी है, मेरा घोड़ा भी यहीं बँधा हुआ है। मैं फिर आकर गुरुजीसे मिल लूँगा।'

यह सुनते ही पंडितजीको रोमाञ्च हो आया और वे गद्‌गद होकर बोले—'ब्राह्मणी ! तुम धन्य हो। वे तो साक्षात् भगवान् थे। तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है, जो तुमको उनके साक्षात् दर्शन हुए। मैं अविश्वासी और हतभाग्य हूँ, इसीलिये मुझको उन्होंने दर्शन नहीं दिये। मैंने एक दिन भी भूख सहन नहीं किया और अधीर होकर भगवान्‌के वचनोंपर हरताल पोत दी। गीता स्वयं भगवान्‌के मुखसे निकली हुई है, उसपर

हरताल पोतना सचमुच भगवान्‌के मुखपर ही हरताल लगाना है। आज गीताका पाठ करते समय जब यह श्लोक आया—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९।२२)

—तब मुझ अविश्वासीके मनमें भगवान्‌के वचनोंपर शङ्का हो गयी कि यदि सचमुच ये भगवान्‌के वाक्य होते तो वे निश्चय ही मेरा योगक्षेम वहन करते; यह क्षेपक है। यह सोचकर मैंने उसपर हरताल पोत दी। मैं बड़ा ही नीच, पापी और अविश्वासी हूँ। मेरे हृदयमें यदि तनिक भी धैर्य होता तो मैं ऐसा नीच काम कभी नहीं करता। वे परम दयालु भगवान् तो सदा योगक्षेम चला ही रहे हैं। सब कुछ समाप्त होनेके साथ ही आ ही पहुँचे। हरताल लगानेके अपराधके कारण मैं उनके दर्शनसे वञ्चित रहा। तुम शुद्ध और अनन्य भक्त तथा पतिव्रता हो। इसलिये तुम्हें दर्शन दे गये। अब तो जबतक वे नहीं आते, तबतक मुझे चैन नहीं।' इसके बाद उनकी दृष्टि बाहरकी ओर गयी तो क्या देखते हैं कि घोड़ेपर भार लदा हुआ है। उन्होंने तुरंत जाकर भार उतारा और उसे अंदर लाकर देखने लगे। उसमें लाखों रुपयोंके रत्न भरे थे, ब्राह्मण यह देखकर अपने कृत्यपर पश्चात्ताप करने लगे। वे पुनः गद्‌गद हो गये और प्रेममें तन्मय होकर भागवतका यह श्लोक गाने लगे—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥*

(३।२।२३)

---

* आश्चर्यकी बात है कि पापिनी पूतनाने जिन श्रीकृष्णको मारनेकी इच्छासे उन्हें स्तनोंमें लगाया हुआ हलाहल विष पिलाया था, वह भी माताके योग्य उत्तम गतिको

'मुझे धिक्कार है कि ऐसे दीनबन्धु, पतितपावन, सबका धारण-पोषण करनेवाले विश्वम्भर प्रभुपर मैंने झूठा दोष लगाकर अपनेको कलङ्कित किया। मैं तो अर्थका दास हूँ। यदि मैं सचमुच प्रभुका दास होता तो मुझे भोजनाच्छादनकी चिन्ता ही क्यों होती और क्यों भगवान् मुझे संतुष्ट करनेके लिये यह रत्न-राशि दे जाते। मैं वास्तवमें यदि भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जानता, मेरा उनमें सच्चा प्रेम होता और मेरे मनमें अर्थकी कामना न होती तो वे मुझे ये रत्न देकर क्यों भुलाते।' यों कहते-कहते ब्राह्मण आनन्दमुग्ध हो गये।

बहुत देर होते देखकर ब्राह्मणीने कहा—'भगवान्‌का दिया हुआ प्रसाद तो पा लें।' पंडितजी बोले—'जब भगवान् यह कह गये हैं कि हम आयेंगे, तब अब तो उनके आनेपर ही प्रसाद पाऊँगा।' सायंकाल हो गया, पर भगवान् नहीं आये। तब ब्राह्मणीने फिर कहा—'अब तो प्रसाद पा लें।' पंडितजी कब माननेवाले थे, उन्होंने फिर वही बात कह दी। अब रात्रिके दस बज गये, शयनका समय हो गया और भगवान् नहीं आये, तब ब्राह्मणीने पुनः विनयपूर्वक कहा—'प्रसाद तो पा लीजिये।' ब्राह्मणदेवताने फिर भी प्रसाद नहीं पाया और दोनों बिना कुछ खाये ही सो गये।

रातके ग्यारह बजे थे। दरवाजा खटखटाते हुए किसीने बड़े ही मधुर स्वरोंमें पुकारा—'गुरुआनीजी ! गुरुआनीजी ! दरवाजा खोलिये।' ब्राह्मण-दम्पतिको अभी नींद तो आयी ही नहीं थी। सुमधुर स्वर तथा 'गुरुआनीजी' सम्बोधन सुनकर ब्राह्मणी चौंक पड़ी और आनन्दविह्वल होकर बोली—'स्वामिन् ! लीजिये, आपके भगवान् आ गये हैं।' ब्राह्मणने तुरंत दौड़कर दरवाजा खोला और वे भगवान्‌के चरणोंपर गिर

प्राप्त हुई; फिर उन भगवान्‌को छोड़कर हम और किस दयालुकी शरणमें जायँ।

पड़े। भगवान्‌ने उनको उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया। उस समय पंडितजीकी बड़ी विचित्र दशा थी। उनका शरीर रोमाञ्चित था, नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी, हृदय प्रफुल्लित था और वाणी गद्‌गद थी। फिर भी वे किसी तरह धीरज धरकर बोले—'नाथ ! मैं तो एक अर्थका दास हूँ। मुझ-जैसे पामरपर भी जो आपने इतनी कृपा की; इसमें आपका परम कृपालु स्वभाव ही हेतु है। यदि मेरे भाव और आचरणोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो आपके दर्शन तो दूर रहे, मुझे कहीं नरकमें ठौर नहीं मिलनी चाहिये। मैंने आप-जैसे सर्वथा निर्दोष महापुरुषपर दोष लगाया—मुझ-जैसा अर्थकामी नीच कोई शायद ही होगा। मैं तो अर्थके लिये ही आपको भजता था, तभी तो आपने मेरे संतोषके लिये ये रत्न दिये हैं। मैं बड़ा भारी सकामी हूँ, इसीलिये तो मैंने आपको सांसारिक योगक्षेम चलानेवाला ही समझा, नहीं तो मैं पारमार्थिक योगक्षेमकी ही कामना करता। जो निष्कामभावसे केवल मात्र आपपर ही निर्भर हैं, वे तो इस योगक्षेमको भी नहीं चाहते; किंतु आप तो बिना उनके चाहे ही उनका योगक्षेम वहन करते हैं। मुझ-जैसे अभागेमें ऐसी श्रद्धा, प्रेम, विश्वास और निर्भरता कहाँ, जो आप-जैसे महापुरुषके हेतुरहित अनन्य-शरण होता।'

भगवान् बोले—'इसमें तुम्हारा कोई दोष ही नहीं है। तुम तो मुझपर ही निर्भर थे। मेरे आनेमें जो विलम्ब हुआ, यह मेरे स्वभावका दोष है, पर अभीतक तुमने भोजन क्यों नहीं किया ?' पंडितजीने कहा—'जब आप कह गये थे कि मैं फिर आकर मिलूँगा, तब बिना आपके आये मैं कैसे भोजन करता। आप भोजन कीजिये, उसके बाद हमलोग भी प्रसाद पायेंगे।' भगवान्‌ने कहा—'नहीं-नहीं चलो हमलोग एक साथ ही भोजन करें।' फिर ब्राह्मण-पत्नीने भगवान्‌का

संकेत पाकर दोनोंको भोजन कराया। ब्राह्मणदेवताने अत्यन्त प्रेम-विह्वल होकर प्रसाद पाया। भोजनके बाद भगवान् बोले—'तुम्हारी जो इच्छा हो, सो माँग लो; तुम्हारे लिये कुछ दुर्लभ नहीं है।' ब्राह्मणने कहा 'जब आप स्वयं ही पधार गये, तब अब भी माँगना बाकी ही रहा क्या? नाथ! मैं तो यही चाहता हूँ कि अब तो मेरे मनमें योगक्षेमकी भी इच्छा न रहे और केवल आपमें ही मेरा अनन्य विशुद्ध प्रेम हो।' भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।' इसके बाद ब्राह्मण-पत्नीने भी प्रसाद पाया।

इधर जबसे उन छोटे भाइयोंने अपने ज्येष्ठ भ्राता भगवद्भक्त ब्राह्मणको अलग कर दिया था, तबसे वे उत्तरोत्तर नितान्त दरिद्री और दुःखी होते चले गये। उनकी इतनी हीन दशा हो गयी कि न तो उनको कहींसे कुछ उधार ही मिलता था और न माँगनेपर ही। जब उन्होंने सुना कि हमारे भाई इतने धनी हो गये हैं कि उनके द्वारपर सदा याचकोंकी भीड़ लगी रहती है, तब वे भी अपने भाईके पास गये। परम भक्त पंडितजीने भाइयोंको आये देखकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और उनकी कुशल-क्षेम पूछी। उन्होंने उत्तरमें कहा—'आप-जैसे सज्जन पुरुषसे अलग होकर हमें कुशल कहाँ? हम तो मुँह दिखाने लायक भी नहीं हैं। फिर भी आप हमलोगोंपर दया करके प्रेमसे मिलते हैं, यह आपका सौहार्द है।' बड़े भाईने कहा—'नहीं-नहीं भैया! ऐसा मत कहो। हम तीनों सहोदर भाई हैं। हमलोग कभी अलग थोड़े ही हो सकते हैं। यह तो एक होनहार थी। हमलोग जैसे प्रेमसे पहले रहा करते थे, अब भी हमें वैसे ही रहना चाहिये। संसारमें सहोदर भाईके समान अपना हितैषी और प्रेमी कौन है? तुमलोगोंको लज्जा या पश्चात्ताप न करके पूर्ववत् ही प्रेम करना चाहिये। यह जो कुछ ऐश्वर्य देखते हो, इसमें भैया! मेरा

क्या है। यह सब श्रीभगवान्‌की विभूति है। जो कोई भी भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, भगवान् सब प्रकारसे उसका योगक्षेम वहन करते हैं। जैसे बालक माता-पितापर निर्भर होकर निश्चिन्त विचरता है और माता-पिता ही सब प्रकारसे उसका पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार, नहीं-नहीं, उससे भी बढ़कर भगवान् अपने आश्रितका पालन-पोषण और संरक्षण करते हैं। यही क्या, वे तो अपने-आपको ही उसके समर्पण कर देते हैं। अतः तुमलोगोंको—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

—इस श्लोकमें कही हुई बातपर विश्वास करके नित्य-निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहिये तथा अर्थ और भावको समझकर नित्य श्रीगीताका अध्ययनाध्यापन करना चाहिये।'

इसके बाद वे दोनों भाई बड़े भाईके साथ रहकर उनकी आज्ञाके अनुसार नित्य-निरन्तर जप, ध्यान तथा गीताका पाठ करने लगे एवं थोड़े ही समयमें भगवान्‌की भक्ति करके भगवत्कृपासे भगवान्‌को प्राप्त हो गये।

यह कहानी कहाँतक सच्ची है, इसका पता नहीं है; किंतु हमें इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भगवान्‌पर निर्भर होनेपर भगवान् योगक्षेमका वहन करते हैं। अतः हम भी इसपर विश्वास करके भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। सबसे उत्तम बात तो यह है कि नित्य-निरन्तर भगवान्‌का निष्कामभावसे चिन्तन करना चाहिये। योगक्षेमकी भी इच्छा न करके भगवान्‌में केवल अहैतुक विशुद्ध प्रेम हो, इसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये। किंतु यदि योगक्षेमकी ही इच्छा हो तो सच्चे—पारमार्थिक योगक्षेमकी इच्छा करनी चाहिये।

अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है। और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। पारमार्थिक योगक्षेमका अभिप्राय यह है कि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें जहाँतक हम आगे बढ़ चुके हैं, उस प्राप्त साधनसम्पत्तिकी तो भगवान् रक्षा करते हैं और भगवान्‌की प्राप्तिमें जो कुछ कमी है, उसकी पूर्ति भगवान् कर देते हैं। ऐसा भगवान्‌ने आश्वासन दिया है। इस प्रकार समझकर और इसपर विश्वास करके भगवान्‌पर निर्भर एवं निर्भय हो जायँ, भगवच्चिन्तनके सिवा और कुछ भी चिन्ता न करें।

जो लोग सांसारिक योगक्षेमके लिये भगवान्‌को भजते हैं, वे भी न भजनेवालोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं; क्योंकि भगवान्‌ने अर्थार्थी, आर्त आदि भक्तोंको भी उदार—श्रेष्ठ बतलाया है—**'उदाराः सर्व एवैते'** (गीता ७। १८)—और ज्ञानी निष्काम अनन्य भक्तको तो अपना स्वरूप ही बतलाया है; क्योंकि उस निष्कामी ज्ञानीको एक भगवान्‌के सिवा अन्य कोई गति है ही नहीं।

अतः हमको उचित है कि हम भगवान्‌के निष्काम ज्ञानी अनन्य भक्त बनें; क्योंकि ऐसा भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। भगवान्‌ने कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उन भक्तोंमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्यप्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

★

निष्कामता

रामू और गोपाल दोनों एक ही गाँव रामपुराके रहनेवाले थे। दोनों ही कहार थे। गोपाल इच्छानगरी-नरेशके प्रधान मन्त्रीके पेशकारके घर बर्तन माँजने, झाड़ू लगाने आदिका काम करता था। रामूसे उम्रमें बड़ा था, पर सम्बन्धके नाते भाई था। रामूका पिता गाँवमें प्रतिष्ठित माना जाता था। रामू कहारके घर पैदा हुआ था, पर वह बड़ा ही बुद्धिमान् था और उसमें सात्त्विक गुणोंकी स्वाभाविक ही बहुतायत देखी जाती थी। रामूके हृदयमें भगवद्भक्ति, विनय, संतोष और निष्कामता आदि गुणोंका भी विकास हो गया था। उसका चेहरा भी राजकुमारका-सा सुन्दर था। गाँवके सभी लोग उससे प्यार करते थे। उसने पंद्रह वर्षकी उम्रमें ही गाँवके वयोवृद्ध पं० रमाकान्तजीसे, जो बड़े संयमी, सदाचारी तथा भगवद्भक्त विद्वान् थे और नगरकी ऊँची अध्यापकीको छोड़कर निःस्वार्थभावसे गाँवके लड़कोंको पढ़ाते थे; अच्छे विद्याभ्यासके साथ ही बहुत-से सद्गुण भी प्राप्त कर लिये थे।

रामूका गाँव रामपुरा इच्छानगरी राजधानीसे थोड़ी ही दूरपर था। एक दिन तड़के ही रामू नहा-धोकर घरसे चल दिया और पौ फटते-फटते इच्छानगरी जा पहुँचा। उसने खोजते-खोजते गोपालके घर पहुँचकर सहसा गोपालके चरण पकड़ लिये। गोपाल उस समय बिछौनेसे उठा ही था। रामूको इस तरह देखकर वह चकित हो गया और आह्लाद तथा आश्चर्यसे उसके चेहरेकी ओर देखने लगा।

'भैया ! तुम धन्य हो', रामूने पैर पकड़े हुए ही कहा। 'अरे भैया ! तुम आये, बड़ा अच्छा किया ! गाँवमें सब कुशल तो है ? पर तुमने मेरे पैर क्यों पकड़ लिये ? तुम तो वैसे मेरे भाई हो।' गोपाल पीछे हटते हुए एक साँसमें कह गया।

'भैया ! तुम्हारी महिमा मैं क्या कहूँ ! बस, तुम धन्य हो।' रामूने गद्गद वाणीसे फिर कहा।

'भैया ! वैसे तो मैं तुम्हारे घरका आदमी हूँ, मेरा काम देखो तो मैं महाराजा साहेबके दीवानके पेशकारके यहाँ बर्तन माँजनेवाला नीचे दर्जेका नौकर हूँ, मैं धन्य कैसे हो गया ?' गोपालने जिज्ञासासे कहा।

'भैया ! इसीलिये तो तुम धन्य हो ! तुम जानते हो, हमारे महाराजा उच्चकोटिके महापुरुष हैं। वे अनन्यभक्त, ज्ञानी और योगी महात्मा हैं।' रामूने गोपालके पैरोंसे चिपटे हुए ही कहा।

'पर इससे क्या हुआ ? इन सद्गुणोंसे सम्पन्न तो महाराजा हैं न ?' पैर छुड़ाते हुए गोपालने कहा। 'मुझमें तो कोई गुण नहीं है।'

रामूने आदर और प्रेमभरे शब्दोंमें कहा—'भाई ! ऐसे महापुरुष महाराजाके दीवानके पेशकारकी नौकरी मिलना क्या कोई साधारण बात है ? मुझे तो ऐसी नौकरी मिल जाय तो मैं अपने जीवनको सफल समझूँ, बल्कि तुम्हारी ही सेवाका अवसर मिल जाय तो भी मेरा जीवन धन्य हो सकता है।' यों कहकर वह गोपालके मुँहकी ओर देखने लगा।

गोपालपर रामूके शब्दोंका बड़ा प्रभाव पड़ा। गोपालने कहा—'भैया ! पेशकार साहबको तो आदमीकी जरूरत ही थी, वे मुझसे कह रहे थे। तुम आ गये और तुम चाहते भी हो, अतः आज ही मैं तुम्हें काम दिलवा दूँगा।

× × × ×

रामू पेशकारके यहाँ बड़ी लगनसे काम करने लगा था। महीना पूरा होनेपर गोपालके हाथ भेजे हुए वेतनको जब उसने नहीं लिया, तब पेशकारने उसे बुलाकर कहा—

'तुम अत्यन्त उत्साह, श्रद्धा, प्रेम तथा तत्परतासे दिन-रात काम करते हो। काम भी पहले नौकरसे दुगुने कर लेते हो। इतना काम तो कोई नौकर करता ही नहीं। फिर भी गत मासमें तुमने वेतन नहीं लिया, इससे मैं बहुत लज्जित हूँ। मैं समझता हूँ, तुम्हें दस रुपये मासिक बहुत कम हैं। तो अब तुम जितना कहो, उतने ही रुपये प्रतिमासके लिये निर्धारित कर दूँ।'

रामूकी प्रसन्नताकी सीमा न थी। उसे शुद्ध, सात्त्विक एवं दिव्यगुणसम्पन्न नरपतिके दीवानके पेशकारके पास रहनेका स्थान जो मिल गया था। इसी कारण वह अहंता, ममता तथा आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिसमन्वित हृदयको लेकर निष्कामभावसे सेवा कर रहा था। पेशकार उससे अत्यन्त संतुष्ट हो गया था। रामूने पेशकारकी बात सुनकर अत्यन्त विनयसे उत्तर दिया—'मेरे रुपये न लेनेका यह कारण नहीं था कि वेतन कम है।'

पेशकार चकित था। उसे रामूकी बातपर सहसा विश्वास नहीं हुआ। उसने पूछा—'तो फिर इतना अधिक श्रम किसलिये करते हो?'

'आप अच्छी तरह जानते हैं, हमारे महाराजा उच्चकोटिके महापुरुष हैं। वे योगी, ज्ञानी, ईश्वरभक्त और साक्षात् महात्मा हैं। आप उनके दीवानके पेशकार हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपकी चाकरीका अवसर प्राप्त हुआ है। तनख्वाह इससे बढ़कर और क्या होगी?' रामूने नतमस्तक होकर उत्तर दिया।

'राजा साहेब तो तुम जैसा कहते हो, वैसे ही हैं; पर मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ। मुझमें वे कोई भी गुण नहीं हैं, जो उनमें विद्यमान हैं। मेरी चाकरीसे तुम्हें क्या लाभ है?' पेशकारने उत्सुकतासे प्रश्न किया।

'आप हैं तो उन्हींके दीवानके पेशकार। मेरे भाग्यमें आप-जैसे महापुरुषोंकी सेवा कहाँ। भगवान्‌की बात तो दूर रही, उनके आश्रित भक्तोंके दासानुदासोंके दासानुदासकी सेवा प्राप्त कर लेना भी बहुत बड़ा सौभाग्य है; क्योंकि उनके सम्पर्कसे कभी न कभी भगवदनुरागी महापुरुषोंके दर्शन प्राप्त हो सकते हैं। इसी तरह आपकी सेवा करते-करते मुझे कभी दीवानजीके भी दर्शन हो जायँगे, जो उन भगवद्भक्त राजाके निकटतम सम्पर्कमें रहा करते हैं।' रामूने सरलतासे मनकी सच्ची बात कह दी।

'दीवानके दर्शनकी कौन बात है, उनका दर्शन तो मैं तुम्हें कल ही करवा सकता हूँ।' पेशकार रामूकी पवित्र भावनापर मुग्ध हो गये थे। उन्होंने कहा—'दीवानजी प्रातःकाल साढ़े आठ बजे न्यायालयमें आते हैं और मैं वहाँ आठ बजे चला जाता हूँ; तुम नौ बजेतक एक गिलास चाय और जल लेकर वहाँ आ जाना। और वेतनके लिये जितने रुपये कहो, तुम्हारे घर भेज दूँ।'

मुझे रुपयेकी आवश्यकता नहीं है। घरका काम चल जाता है। मुझे तो श्रीदीवानजीके दर्शनसे ही सब कुछ मिल जायगा।' रामूने अनुनय-विनयसे रुपये लेना अस्वीकार कर दिया ?

पेशकार रामूकी ओर देख रहे थे। वे उसके स्वभावकी मन-ही-मन प्रशंसा करने लगे।

× × × ×

गद्दीपर मसनदके सहारे बैठे हुए दीवानने दरवाजेकी ओर देखा। एक सुन्दर अनजान नौजवान हाथमें गिलास लिये बड़ी मुग्धदृष्टिसे एकटक उनकी ओर देख रहा था, जैसे कोई भगवान्‌का दर्शन कर रहा हो। दीवानने कई बार देखा, उसकी पलक झपती ही न थी। वह अतृप्त नेत्रोंसे दीवानकी ओर देख ही रहा था।

'यह कौन है और यहाँ क्यों खड़ा है ?'—दीवानने पेशकारसे पूछा।

'श्रीमान् ! यह आपका नौकर है। आज मैं चाय पीकर नहीं आ सका था तो यह यहीं लेकर आ गया।'—पेशकारने जवाब दिया।

'अच्छा, पहले चाय पी लो!'—दीवानने कहा।

पेशकारने चाय पी और फिर काममें जुट गये। पर दीवानपर रामूकी परम मुग्ध और आकर्षक प्रेमभरी दृष्टिका प्रभाव पड़ चुका था। वे रह-रहकर बरबस रामूकी ओर देख लेते थे। रामूने चायके बर्तन माँज-धोकर वहाँ झाड़ू लगा दिया। फिर दीवानजीके जूते साफ करनेमें जुट गया। साथ ही वह रह-रहकर दीवानकी ओर श्रद्धा और प्रेमभरी दृष्टिसे देख भी लेता था।

'यह लड़का तो बड़े प्रेम और उत्साहसे बिना कहे ही काम करता है और सो भी कितनी फुर्ती और सफाईके साथ! क्या देते हो इसे ?'—दीवानने पेशकारसे पूछा।

'श्रीमान् !......' यह काम तो खूब और बहुत सुन्दर ढंगसे करता है, पर लेता कुछ भी नहीं।

आश्चर्यचकित होकर दीवानने रामूको तुरंत पास बुला लिया और वे पूछ बैठे—'तुम बिना कुछ लिये ही बड़े प्रेमसे काम करते हो, इसका कारण बता सकोगे ?'

'सरकार ! सिर्फ आपके दर्शनके लिये। आज मैं धन्य हूँ।' रामूने दबी जबानसे कह दिया।

'मुझमें कौन-सी ऐसी बात है भैया ?'—दीवानने आकर्षित होकर रामूसे पूछा।

'दीवान साहब ! आप तो जानते ही हैं कि हमारे महाराजा साहेब बहुत उच्चकोटिके महापुरुष हैं। वे योगी, ज्ञानी, भक्त और महात्मा हैं। आप ऐसे पवित्रात्मा नरेशके दीवान हैं। आप-जैसे पुरुषोंका दर्शन होना कोई साधारण बात है। जिनके बड़े भाग्य होते हैं, उन्हींको आप-जैसे पुरुषोंका दर्शन मिलता है।'—रामूने बड़े प्रेम और विनयसे कहा।

'जब तुम्हारी ऐसी भावना है, तब तुम हमारे ही पास रह सकते हो।' दीवानपर प्रेमका जादू चल गया था।

'रामू आश्चर्यचकित था। अत्यन्त मुदित होकर उसने कहा—'आपके चरणोंका सामीप्य पाकर मैं अपनेको परम सौभाग्यशाली समझूँगा।'

'भाई! इसे तो मैं अपने पास रखना चाहता हूँ।'—दीवानने पेशकारकी ओर मुँह फेरकर कहा।

'आप प्रसन्नतापूर्वक रख लें।'—पेशकारने स्वीकृति दे दी।

× × × ×

'मेरे पास काम करते तुम्हें बहुत दिन बीत गये और जिस प्रेम तथा उत्साहसे तुम काम करते हो, वैसे साधारण नौकर तो कर ही नहीं सकते; परंतु आजतक तुमने कुछ भी नहीं लिया, इससे मुझे बड़ा संकोच हो रहा है। वेतन न सही, पर पारितोषिकके रूपमें कुछ अवश्य स्वीकार कर लो। दो-चार सौ जितने कहो, मैं तुम्हारे घर भिजवा दूँ।'—दीवानने बड़े स्नेहसे कहा।

'घरवालोंका काम चल जाता है, सरकार! रुपयेकी आवश्यकता नहीं है।' रामूने श्रद्धालु भक्तकी भाँति उत्तर दिया।

'रुपये नहीं भेजते तो और कोई चीज भेज दो। मैं तुम्हारी सेवाका बहुत आभार मानता हूँ। कुछ तुम्हारा प्रत्युपकार करना चाहता हूँ।'—अनुरोधपूर्वक दीवानजीने कहा।

ऐसा कहकर आप मुझे लज्जित न करें। आपकी सेवा ही सबसे बढ़कर मेरा उपहार है; क्योंकि आप एक महान् पुरुषके दीवान और देशके परम सेवक हैं। मेरे लिये तो आपके दर्शन भी दुर्लभ थे। आपने मुझे सेवाका सौभाग्य देकर सदाके लिये ही ऋणी बना लिया है। आपकी सेवा करते-करते कभी मेरा परम सौभाग्य होगा तो आपकी कृपासे महाराजके भी दर्शन हो जायँगे।'—रामूने मनकी बात व्यक्त कर दी।

'राजा साहेबके दर्शनकी क्या बात है, वह तुम्हें कल ही करवा सकता हूँ। मैं दरबारमें बारह बजे जाता हूँ और राजा साहेब वहाँ एक बजे आते हैं। कल मंगलवारका व्रत है। तुम जानते हो मैं उस दिन बिना खाये ही जाया करता हूँ और मेरे लिये फलाहार वहीं पहुँचाया जाता है। तुम दो बजे फलाहार लेकर वहाँ आ जाना, पर कुछ रुपये अवश्य घरपर भिजवा दो।'—दीवानने आग्रह किया।

'मैं आपका चिरऋणी हूँ, सरकार! मुझे रुपया नहीं चाहिये।' रामूका मस्तक श्रद्धासे नत हो गया था।

× × × ×

'राजाकी दृष्टि आनन्दसमुद्रमें निमग्न रामूपर पड़ गयी थी। उन्होंने उसमें विलक्षण आनन्दका अनुभव किया। वह एकटक राजा साहेबकी ओर देख रहा है और हर्षोत्फुल्ल हो रहा है, इसे उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था। दीवानसे उन्होंने पूछा—'यह कौन है और यहाँ किसलिये खड़ा है?'

'श्रीमान्! यह आपका सेवक है। आज मंगलवार है, इससे फलाहार लाया है।'—दीवान बोले।

अच्छा, तुम पहले फलाहार कर लो।—राजाने आज्ञा दी।

दीवानने अलग जाकर फलाहार किया और फिर लौटकर अपने कार्यमें लग गये। रामू जूठे बर्तन साफ करके दीवान और महाराजके जूते साफ करने लगा। साथ ही वह महाराजकी ओर देख-देखकर आनन्दातिरेकसे विह्वल होता जा रहा था। वह मन्त्रमुग्धकी भाँति हो गया था। उसकी इस दशाका अनुभव राजाने भी किया।

'यह लड़का बड़ा उत्साही मालूम होता है। इसे वेतन क्या दिया जाता है?'—राजाने दीवानसे प्रश्न किया।

'सरकार! काम तो यह बड़ी ही तत्परता तथा प्रेमोत्साहसे करता है, परंतु वेतन आग्रह करनेपर भी कुछ नहीं लेता।'—दीवानने जवाब दिया।

महाराजको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने रामूको बुलाकर पूछा—'तुम बिना कुछ लिये ही इतना प्रेम और उत्साहसे काम करते हो, इसका क्या कारण है?'

'सरकार! बिना कुछ लिये ही कैसे? इन्हींकी तो कृपा है, जो मैं आज सरकार-जैसे अप्रतिम महापुरुषके दर्शन करके कृतकृत्य हो गया। मेरा अहोभाग्य है, जो मैं आज सरकारके दर्शन कर रहा हूँ।' रामू गद्‌गद हो गया था।

'तुम अपनेको कृतकृत्य मानते हो; ऐसी कौन-सी बात है?'

सरकार महापुरुष हैं, सरकार-जैसे योगी, ज्ञानी, भक्त और महात्माके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं और बड़े ही भाग्यसे होते हैं। आज सरकारके दर्शन करके मैं परम धन्य हो गया हूँ। मेरा जन्म आज सफल हो गया। सरकारकी कृपासे मैं आज सचमुच कृतार्थ हो गया!' रामूने महाराजके चरण पकड़ लिये।

'यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मेरे साथ सदा रह सकते हो।' नरपति प्रभावित हो चुके थे।

'यह तो मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात है। इससे बढ़कर मेरे लिये और हो ही क्या सकता है।' रामूका मस्तक नरपतिके चरणोंपर था।

'इस बच्चेको मेरे पास रहने दो!'—राजाने दीवानसे कह दिया। उनके हृदयमें स्नेह उमड़ने लगा। दीवानने सिर झुका लिया।

× × × ×

'मैं तुम्हारी सेवासे बहुत संतुष्ट हूँ; परंतु न रुपये लेते हो और न ही कुछ घरपर भिजवाते हो। मैं तुम्हारा आभारी हूँ; तुम्हारी जो कुछ इच्छा हो कहो; मैं तुम्हारा कुछ भी अभीष्ट हो, पूरा करना चाहता हूँ'—राजा बोले।

'महाराज जब इस नगण्य दासपर संतुष्ट हैं, तब मैं सब कुछ पा गया। मुझे रुपयेकी आवश्यकता नहीं है।'—रामूने उत्तरमें कहा।

'मैं तुम्हारा आभार मानता हूँ। मेरे संतोषके लिये तुम्हें कुछ-न-कुछ लेना ही होगा।'—नरेशने पुनः आग्रहपूर्वक कहा।

'यों कहकर मुझे लज्जित न करें। मुझे तो सरकारकी सेवाके सामने भौतिक वस्तुएँ अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिये। इसपर भी यदि आप आग्रह करते हैं तो फिर मैं जो माँगूँ, आपको वही देना होगा।'—रामूने मधुर शब्दोंमें कहा।

'निश्चय ही तुम जो माँगोगे मैं दे दूँगा।' नरेशने निश्चित कर लिया था—इसके माँगनेपर समस्त राज्य भी प्रसन्नतापूर्वक दे दूँगा।

'मैं सदा-सर्वदा सरकारके चरणोंके साथ रह सकूँ। मुझे सरकार कभी एक क्षणके लिये भी अपनेसे अलग न करें।' श्रद्धा-विगलित हृदयसे रामू महाराजके चरणोंमें लोट गया।

'इसमें कौन-सी बात है। तुम तो अधिक-से-अधिक मेरे साथ रहते ही हो। कुछ और माँगो।'

'बस, मैं यही चाहता हूँ।'

'मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुम प्रसन्नतापूर्वक मेरे साथ रहो।'

× × × ×

'रात्रिमें शयनकक्षमें मेरे पीछे कैसे ?'

'महाराज ! नित्य समीप रहनेकी आज्ञा मिल चुकी है।'—हाथ जोड़कर रामूने तुरंत जवाब दिया।

'आओ !'—महाराजने कहा।

'तुम्हारे कोई पुत्र नहीं था। अब इसे तुम्हारी सेवाके लिये पुत्ररूपसे लाया हूँ।'—राजाने महारानीसे कहा।

'बहुत अच्छा !' रानीने रामूकी ओर देखा। उसके मनोहर मुख-मण्डलको देखकर उनके नेत्रोंसे स्नेहाश्रुओंकी बूँदें टपक पड़ीं। वात्सल्य उमड़ आया। रामू मन्त्रमुग्ध शिशुकी भाँति महारानीकी ओर देख रहा था।

× × × ×

'अबतक तो यह काम-काज देख रहा था; पर अब सब कागजातपर आजसे यही सही किया करेगा और इसीकी सही मेरी सही समझी जायगी।' राजाने दीवानसे कह दिया। वे रामूकी सेवासे अत्यन्त संतुष्ट थे। रामू तीक्ष्णबुद्धि था और था महाराजका अनन्य सेवक एवं उनके गुणोंको अपनेमें सहज ही धारण करनेवाला। अतः थोड़े ही दिनोंमें उसने बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली थी। रामू पढ़ा-लिखा तो था ही।

दीवानने आज्ञा शिरोधार्य कर ली। कागजोंपर सही रामूकी होने लगी।

कुछ दिन बाद !

'मेरे कोई संतान नहीं है। मैं तुम्हें युवराजके पदपर बैठाना चाहता हूँ।'—नरेशने रामूसे कहा। वे उसे पुत्रकी भाँति प्यार करने लग गये थे।

'सरकार ! मुझे लज्जित न करें। मैं सरकारकी चरण-सेवा नहीं त्याग सकता। इतने बड़े लाभकी तुलनामें राज्य-सुख तुच्छ है।' रामूने सेवापरायण पुत्रकी भाँति उत्तर दिया।

राजाने उसकी बात मान ली और आज्ञा देकर उससे राजकार्य कराने लगे।

× × × ×

'मैं तो आपका सेवक हूँ। यह सब आपकी ही कृपासे प्राप्त है।'—दीवानके चरण पकड़कर रामूने कहा।

'अरे, आप महाराजके प्रतिनिधि हैं। आप सिंहासनके अधिकारी हैं। मुझे लज्जित न करें। घबराये हुए दीवान किसी प्रकार रामूको सिंहासनपर बैठानेमें सफल हो सके। दीवान दरबारमें आये थे।

'मैं तो आपके चरणोंका चाकर हूँ। यह सब आपकी ही कृपासे मुझे प्राप्त हुआ है।' रामू पेशकारके पैर पकड़कर कहने लगा और उसे सिंहासनपर बैठानेके लिये अपनी ओर खींचने लगा।

बेचारा पेशकार किसी कामसे आ गया था। बड़ी कठिनाईसे रामूको सिंहासनपर बैठाकर अपने स्थानपर बैठा।

'भैया! तुम्हारी ही कृपासे मुझे यह सिंहासन प्राप्त हुआ है। चलो, सिंहासनपर बैठो!'—सिंहासनसे उतरकर दौड़ते हुए पेशकारके पुराने नौकरके पास जाकर रामूने विनयपूर्वक कहा।

'पेशकार साहब और दीवान साहबके सामने मैं ऊँचे आसनपर कभी नहीं बैठ सकता। आप मुझे लज्जित न कीजिये'—कहकर पेशकारका नौकर वहीं पृथ्वीपर बैठ रहा। वह किसी कामसे आ गया था। रामूमें अहंकारका लेश भी न था।

× × × ×

विनयके तुम मूर्तिमान् स्वरूप हो। अहंता, ममता तो तुम्हें स्पर्श भी नहीं कर सकी है। अत्यन्त छोटे कर्मचारीसे लेकर ऊँचे पदाधिकारीतक सभी तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हैं। तुममें शासन ग्रहण करनेकी अपूर्व योग्यता और क्षमता भी दीखती है। अतएव तुम मेरी बात मानकर राजपद स्वीकार करो। अब मैं एकान्तवास करना चाहता हूँ।'—राजाने रामूके सामने प्रस्ताव रखा!

'सरकार सदा-सर्वदा अपने चरणोंके समीप रखनेका मुझे वरदान दे चुके हैं, फिर एक क्षण भी मुझे अलग कैसे कर सकेंगे? मुझे राजपदकी बिलकुल इच्छा नहीं है। सरकार! ऐसा कहकर मुझे लज्जित न करें और मैं सरकारसे एक क्षण भी अलग नहीं रह सकूँगा। मैं राजपद स्वीकार करनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ, इसके लिये प्रेमपूर्वक क्षमा चाहता हूँ।'—रामूने विनय, प्रेम और दृढ़ताके स्वरोंमें अपना निर्णय नरेशको सुना दिया।

'मेरे साथ रहकर राज्यका शासनपद ग्रहण करो।' महाराजको विवश होकर अपनी इच्छा परिवर्तित करनी पड़ी।

रामू अब राजाके साथ रहकर राज्यका काम सँभालता था।

× × × ×

रामू कहारकी यह कल्पित कहानी दृष्टान्तरूपसे कही गयी है। इसे परमार्थ-विषयमें इस प्रकार घटाना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके मार्गपर चलनेवाले साधक पुरुषको यहाँ रामू कहार समझना चाहिये। भगवान्‌के दासका दासानुदास पेशकारके यहाँ रहनेवाला नौकर गोपालको समझना चाहिये। भगवान्‌का दासानुदास उस पेशकारको समझना चाहिये और दीवानको भगवान्‌का दास तथा इच्छानगरीके महाराज साहेबको साक्षात् भगवान् समझना चाहिये। महाराज साहेबके भक्ति, ज्ञान, योग आदिको भगवान्‌के गुण तथा प्रभाव समझना चाहिये। राजाकी रानीको ईश्वरकी शक्ति भगवती देवी समझना चाहिये। रामू कहारका वेतनसे लेकर राजपदतक कुछ भी स्वीकार न करना निष्कामभावसंयुक्त स्वार्थका त्याग तथा श्रद्धापूर्वक उत्साहसे काम करनेको उसका साधन समझना चाहिये। उसके श्रद्धा, भक्ति, विनयपूर्वक अहंकाररहित बर्तावको ही आदर्श शिष्टाचार समझना चाहिये। राजपदको मुक्ति और राजाके नित्य समीप रहनेको ही उच्चकोटिका विशुद्ध प्रेम समझना चाहिये।

इस दृष्टान्तसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अहंकार, ममता, आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर श्रद्धा, भक्ति और विनयपूर्वक निष्कामभावसे भगवान्‌के दासानुदासके सङ्ग और सेवा करते हुए भगवान्‌की आज्ञाका पालन करें तथा मुक्तिकी भी इच्छा न रखकर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌के नित्य समीप रहकर भगवान्‌का निरन्तर स्मरण रखते हुए ही सेवा करनेका आग्रह रखें।

══ ★ ══

गीताके श्लोकके अर्थ और रहस्यका भेद

एक बहुत ही संतोषी, सदाचारी और विद्वान् ब्राह्मण थे; किंतु थे वे निर्धन। उनकी पत्नी बड़ी पतिव्रता, विदुषी, तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न और जीवन्मुक्त थीं। उस देशके राजा भी तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्मा थे। ब्राह्मण-पत्नीने एक दिन विचार किया—मेरे पतिदेव संतोषी, सदाचारी और विद्वान् हैं; इसलिये वे मुक्तिके अधिकारी तो हैं ही। इनकी यदि हमारे जीवन्मुक्त राजासे भेंट हो जाय तो ये भी शीघ्र तत्त्वज्ञानी—जीवन्मुक्त हो सकते हैं। यह सोचकर उसने पतिसे प्रार्थना की—'पतिदेव! आजकल अपने शरीरनिर्वाहके लिये बड़ी ही तंगी हो गयी है और आयका कोई भी रास्ता नहीं दीखता। सुना जाता है, यहाँके राजा बड़े सदाचारी, जीवन्मुक्त महात्मा हैं तथा ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करनेवाले एवं परम उदार हैं। आप उनसे एक बार मिल लें तो वे आपका उचित सत्कार कर सकते हैं और शास्त्रविधिके अनुसार यदि राजा बिना याचना किये ही कुछ दें तो वह ब्राह्मणके लिये अमृतके समान है—यह आप जानते ही हैं।'

पंडितजीने कहा—'तुम्हारा कहना ठीक है; परंतु मैं जबतक किसीका कोई उपकार न कर दूँ, तबतक अयाचकवृत्तिसे भी—बिना माँगे उससे दान लेकर जीवन-निर्वाह करना निन्दास्पद समझता हूँ; अतएव मैं ऐसा नहीं करूँगा; चाहे मुझे भूखों ही रहना पड़े।'

ब्राह्मण-पत्नी बोली—'आप विद्वान् हैं, राजाको यथोचित उपदेश देकर उनका उपकार कर सकते हैं।'

यह बात पण्डितजीको कुछ रुची; पर उनका मन राजाके पास जानेका नहीं होता था। अन्तमें पत्नीके बहुत कहनेपर वे राजी हो गये और राजसभामें चले गये। पण्डितजीके सद्‌गुण और सदाचारोंकी ख्याति देशभरमें फैली हुई थी। राजाने पण्डितजीका बड़ा आदर-सत्कार किया। कुशलक्षेम-प्रश्नोत्तरके अनन्तर राजा बहुत-सी स्वर्णमुद्राएँ मँगाकर पण्डितजीको भेंट की!' पण्डितजीने उन्हें अस्वीकार करते हुए कहा—'राजन्! आप बड़े उदार हैं, मैं यह जानता हूँ। परंतु मेरा एक नियम है, मैं किसीका उपकार किये बिना उससे अयाचित-रूपमें भी धन नहीं लेता। आप मुझे कोई काम सौंपें और उससे मैं आपको संतोष करा सकूँ, उसके बाद यदि आप कुछ दें तो वह लिया जा सकता है।' राजाने कहा—'पण्डितजी! बहुत अच्छा। आप सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण हैं। मैं आपसे गीताका रहस्य सुनना चाहता हूँ। आप कृपापूर्वक मुझे गीताके बारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकका भावसहित स्पष्ट अर्थ समझाइये।'

पण्डितजीने पहले श्लोक पढ़ा, फिर उसका शब्दार्थ बतलाया—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

'जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

तदनन्तर वे श्लोकका भावार्थ इस प्रकार बतलाने लगे—जिसे किसी भी प्रकारकी इच्छा, स्पृहा और कामना न हो—जो आप्तकाम हो एवं जिसे किसी बातकी भी परवा न हो, उसे 'अनपेक्ष' कहते हैं।

जिसका अन्तःकरण अत्यन्त पवित्र हो, जिसका बाहरका

व्यवहार भी उद्वेगरहित, पवित्र और न्याययुक्त हो, जिसके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही लोग पवित्र हो जायँ, वह 'शुचि' है।

जिस महान् कार्यके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उसे प्राप्त कर लेना अर्थात् भगवान्को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यकी यथार्थ दक्षता है; जो अपना काम बना लेता है, वही 'दक्ष' कहलाता है।

जो गवाही देते समय और न्याय या पंचायत करते समय कुटुम्बी, मित्र, बन्धु आदिकी दृष्टिसे या राग, द्वेष, लोभ, मोह एवं भय आदिके वश होकर किसीका भी पक्षपात नहीं करता—सदा-सर्वदा पक्षपातरहित रहता है, उसे 'उदासीन' कहते हैं।

किसी भी प्रकारके भारी-से-भारी दुःख अथवा दुःखके हेतु प्राप्त होनेपर भी जो दुःखी नहीं होता अर्थात् जिसके अन्तःकरणमें कभी किसी तरहका विषाद, दुःख या शोक नहीं होता, वही 'गतव्यथ' है।

जो बाहर-भीतरके समस्त कर्मोंको त्यागकर केवल प्रारब्धपर ही निर्भर रहता है, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कुछ भी कर्म नहीं करता, अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है तथा प्रारब्धवश होनेवाली क्रियाओंमें जिसके कर्तापनका अभिमान नहीं है, ऐसे बाहर और भीतरके त्यागको 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहते हैं।

पण्डितजीके उपर्युक्त भावार्थ बतला चुकनेपर राजाने नम्रतासे कहा—'महाराजजी ! आपने बड़ा सुन्दर अर्थ किया । आपका कथन सर्वथा युक्तियुक्त और शास्त्रसंगत है तथापि मेरा ऐसा अनुमान है कि श्लोकका बहुत सुन्दर अर्थ करनेपर भी आप अभी इसके रहस्यसे अनभिज्ञ हैं।' पण्डितजी झुँझलाकर बोले—'रहस्य न जानता होता तो भावसहित अर्थ कैसे बतला सकता । मुझे गीताकी बावन टीकाएँ कण्ठस्थ हैं। इसके अतिरिक्त कोई विशेष रहस्य हो और उसे आप जानते हों तो आप ही बतलाइये।'

राजाने इसका उत्तर न देकर बड़ी विनम्र वाणीमें कहा— 'पण्डितजी ! मुझे आपकी शास्त्रसम्मत सुन्दर व्याख्यासे बड़ा संतोष हुआ है; मैं आपका बहुत आभारी हूँ। अतः मेरी दी हुई भेंट आप कृपया स्वीकार कीजिये।'

पण्डितजीने कहा—'राजन् ! जब आप मेरे लिये यह कहते हैं कि मैं रहस्यसे अनभिज्ञ हूँ, तब संतोषकी बात कहाँ रही। यह तो कहनेभरका संतोष है। मैं जबतक आपको वास्तवमें संतोष न हो जाय, तबतक आपसे कुछ भी लेना नहीं चाहता।' राजाके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पण्डितजीने भेंट स्वीकार नहीं की और वे घर लौट आये। उधर राजाने एक विश्वासपात्र गुप्तचरको बुलाकर कहा—'ये ब्राह्मण देवता बड़े त्यागी, सदाचारी और स्वाभिमानी विद्वान् हैं। तुम इनके पीछे जाकर देखो, घरपर इनका कैसा क्या व्यवहार और वार्तालाप होता है और फिर उसकी सूचना मुझे दो।' राजाका आदेश पाकर गुप्तचर उनके पीछे हो लिया और उन सबका व्यवहार-वार्तालाप देखता रहा।

पण्डितजीने घर लौटकर पत्नीके पूछनेपर राजसभाकी सारी कथा आद्योपान्त उसे सुना दी। पत्नीने विनय और प्रेमसे कहा—'स्वामिन् ! राजाने जो कुछ कहा, वह तो उचित ही मालूम होता है। आपको नाराज नहीं होना चाहिये था।'

पण्डितजी—(कुछ क्रोधावेशमें आकर तथा व्यथित-से होकर) वाह ! तुम भी राजाकी ही बातका समर्थन करती हो।

पत्नी—नाथ ! आप ही तो कहा करते हैं कि न्याययुक्त बातका समर्थन करना चाहिये।

पण्डितजी—(कुछ और भी उत्तेजनासे तुरंत उसे दबाते हुए) क्या राजाका यह कहना न्याययुक्त है कि मेरी व्याख्या तो सुन्दर है,

पर मैं इसके रहस्यको नहीं समझता ?

पत्नी—आप क्षमा करें। राजाकी बात तो बहुत ही ठीक है। किसी श्लोककी व्याख्या करना सहज है, पर उसका यथार्थ रहस्य जानना बहुत ही कठिन है।

पण्डितजी—कैसे ?

पत्नी—जैसे ग्रामोफोनपर जो चूड़ी चढ़ा दी जाती है, वह वही गाना गा लेती है, पर उसके रहस्यको वह थोड़े ही समझती है।

पण्डितजी—तो क्या मैं ग्रामोफोनकी तरह हूँ ?

पत्नी—जो पुरुष दूसरोंको उपदेश-आदेश तो बड़ा सुन्दर करता हो, किंतु स्वयं उसमें वे बातें चरितार्थ न होती हों तो आप ही बतलाइये, ग्रामोफोनमें और उसमें क्या अन्तर है ? राजाके पूछनेपर आपने श्लोककी जो व्याख्या की, क्या वे सारी बातें आपमें चरितार्थ होती हैं ?

पण्डितजी—क्यों नहीं ? कौन-सी बात मुझमें नहीं है ?

पत्नी—आप शान्तिसे मेरा निवेदन सुनिये। मेरी प्रार्थना है—आप उस श्लोकके प्रत्येक पदका अर्थ पुनः मुझे बतलाइये। 'अनपेक्ष' का क्या भाव है ?

पण्डितजी—जिसे किसी भी प्रकारकी इच्छा, स्पृहा और कामना न हो, जो आप्तकाम हो एवं जिसे किसी भी बातकी परवा न हो, उसे 'अनपेक्ष' कहते हैं।

पत्नी—क्या आप ऐसे हैं ?

पण्डितजी—क्यों नहीं ? मुझे तो कोई भी इच्छा, स्पृहा और कामना नहीं है। मैं तो तुम्हारे ही अनुरोध करनेपर राजाके पास गया था और राजाके अनुनय-विनय करनेपर भी मैंने उनसे कुछ भी नहीं लिया।

पत्नी—बहुत अच्छा ! सत्य है, आप मेरे ही आग्रहसे गये थे।

यह आपकी मुझपर दया है। अच्छा, 'शुचि' का क्या अभिप्राय है ?

पण्डितजी—जिसका अन्तःकरण अत्यन्त पवित्र हो, जिसका बाहरका व्यवहार भी उद्वेगरहित, पवित्र और न्याययुक्त हो, जिसके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही लोग पवित्र हो जायँ, वह 'शुचि' है।

पत्नी—क्या आप बाहर-भीतरसे इस प्रकार शुद्ध हैं ? क्या आपके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाता है ? क्या आपके अन्तःकरणमें कोई विकार नहीं होता ? क्या आपका बाहरका व्यवहार उद्वेगरहित, न्याययुक्त और पवित्र है ? यदि ऐसा है तो फिर आपके मनमें क्रोध तथा उद्वेग क्यों हुआ और राजासे अपने अहंकारके वचन क्यों कहे ?

पण्डितजी—(सहमकर) ठीक है,इस गुणकी तो मुझमें कमी है।

पत्नी—अच्छा, 'दक्ष'का आपने क्या भाव बतलाया ?

पण्डितजी—जिस महान् कार्यके लिये मनुष्यशरीर मिला है, उसे प्राप्त कर लेना अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यकी यथार्थ दक्षता है। जो अपना काम बना लेता है वही 'दक्ष' कहलाता है।

पत्नी—तो क्या आप जिस महान् कार्यके लिये संसारमें आये थे, उसे पूरा कर चुके ? क्या आपने परमपदको प्राप्त कर लिया ? नहीं तो फिर राजाका कहना उचित ही है।

पण्डितजी—तुम्हारा कथन सत्य है। मुझमें यह भी गुण नहीं है।

पत्नी—'उदासीन' पदका क्या अभिप्राय है ?

पण्डितजी—जो गवाही देते समय, न्याय या पंचायत करते समय कुटुम्बी, मित्र, बन्धु आदिकी दृष्टिसे या राग, द्वेष, लोभ, मोह एवं भय आदिके वश होकर किसीका भी पक्षपात नहीं करता, सदा-सर्वथा पक्षपातरहित रहता है, उसे 'उदासीन' कहते हैं।

पत्नी—क्या आप पक्षपातरहित हैं ? क्या आपने राजाके सम्मुख अपने पक्षका समर्थन नहीं किया ? क्या आपने राजाके इस कथनपर कि आप श्लोकके रहस्यको नहीं समझते, गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया ? नहीं तो, फिर राजाका कहना कैसे उचित नहीं है ?

पण्डितजी—(सरल और शुद्ध हृदयसे अपनी कमीको विनम्र भावसे स्वीकार करते हुए) तुम सच कहती हो। सचमुच, तुमने आज मेरी आँखें खोल दीं। पक्षपातरहित होनेका तो मुझमें बड़ा अभाव है। कहीं वाद-विवाद होता है तो मैं अपने पक्षको दुर्बल जानकर भी अपने पक्षके दुराग्रहको नहीं छोड़ता।

पत्नी—अच्छा, 'गतव्यथ'का आप क्या अर्थ करते हैं ?

पण्डितजी—किसी भी प्रकारके भारी-से-भारी दुःख अथवा दुःखके हेतु प्राप्त होनेपर भी जो दुखी नहीं होता अर्थात् जिसके अन्तःकरणमें कभी किसी तरहका विषाद, दुःख या शोक नहीं होता, वही 'गतव्यथ' है।

पत्नी—क्या आपके चित्तमें कोई व्यथा नहीं होती ? यदि नहीं होती तो फिर राजाके वचनोंपर और मेरे समर्थन करनेपर आपको इतना उद्वेग और व्यथा क्यों होनी चाहिये ?

पण्डितजी—तुम्हारा कहना सत्य है। यह भाव मुझमें बिलकुल नहीं है। मनके विपरीत होनेपर प्रत्येक पदपर केवल व्यथा ही नहीं भय, उद्वेग, ईर्ष्या, शोक आदि विकार भी मुझमें दिखायी पड़ते हैं।

पत्नी—अच्छा, 'सर्वारम्भपरित्यागी'से आप क्या समझते हैं ?

पण्डितजी—जो बाहर-भीतरके समस्त कर्मोंको त्यागकर केवल प्रारब्धपर ही निर्भर रहता है, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कुछ भी कर्म नहीं करता, अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय उसीमें संतुष्ट रहता है तथा प्रारब्धवश होनेवाली क्रियाओंमें जिसके कर्तापनका अभिमान नहीं

है, ऐसे बाहर और भीतरके त्यागीको 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहते हैं।

पत्नी—बहुत सुन्दर व्याख्या है; परंतु बतलाइये, क्या आपने बाहर और भीतरसे सब कर्मोंका त्याग कर दिया ? और क्या आपके अन्त:करणमें कोई सांसारिक संकल्प नहीं होता ? यदि नहीं तो फिर आपको इतना अहंकार क्यों होना चाहिये ? बाहरसे तो आप सब कर्म करते ही हैं।

पण्डितजी—'सत्य है, यह बात तो मुझमें बिलकुल ही नहीं घटती। मैं अपनी सारी त्रुटियोंको समझ गया। सचमुच मैं अबतक अर्थ करता ही था। रहस्यसे अनभिज्ञ था। अब कुछ-कुछ समझमें आ रहा है। अतः तुम अनुमति दो, अब मैं बाहर और भीतरसे सब कुछ त्यागकर सच्चा संन्यासी बनने जाता हूँ।'—यों कहकर पण्डितजी सब कुछ छोड़ घरसे चलने लगे।

पत्नीने प्रार्थना की—महाराजजी ! मैं भी आपके साथ ही आपका अनुगमन करना चाहती हूँ।

पण्डितजी—मैं अपने साथ किसी झंझटको नहीं रखना चाहता, फिर स्त्रीको तो रखूँ ही कैसे ?

पत्नी—मुझे आप झंझट न समझिये। मैं आपके साधनमें कोई विघ्न नहीं करूँगी। मैंने जो आज आपको राजाके पास भेजा था, सो धनके लिये नहीं। धनको तो मैंने एक निमित्त बनाया था। मेरा उद्देश्य तो यही था कि आप जीवनके मुख्य लक्ष्यको प्राप्त कर लें। राजा तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष हैं। आप धर्मज्ञ, सदाचारी, त्यागी, संतोषी, विद्वान् तो हैं ही। तत्त्वज्ञ राजाके सङ्ग-प्रभावसे आपको परमात्माकी प्राप्ति भी हो जायगी—इसी लक्ष्यसे मैंने आपको वहाँ भेजा था। अब यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं भी आपके साथ चलना चाहती हूँ।

पण्डितजी—(कृतज्ञताके साथ) मैं अब इस बातको समझ गया। सचमुच तुमसे कोई हानि नहीं होगी। तुम्हीं तो मेरा सच्चा उपकार करनेवाली परम सुहृद् हो। वस्तुतः सच्चे सुहृद् वे ही हैं, जो अपने प्रिय सम्बन्धीकी परमात्माको प्राप्त करनेमें सहायता करते हैं। चलो, तुम तो वहाँ भी परमात्माकी प्राप्तिमें मेरी सहायता ही करोगी।

तदनन्तर वे दोनों सब कुछ त्यागकर घरसे निकल गये। इधर गुप्तचरने जो उन दोनोंकी परस्पर बातचीत सुनी और जो घटना देखी, वह सब राजाके पास जाकर ज्यों-की-त्यों कह दी। राजाने अपने राज्य, कोष आदि सब तो पहले ही अपने पुत्रको सँभला दिये थे, अब गुप्तचरकी बात सुनकर वे भी राज्य छोड़कर चल दिये। उन्हें रास्तेमें सम्मुख आते हुए ब्राह्मणदम्पति मिले। राजाने उल्लासके साथ उनसे कहा—'पण्डितजी महाराज! अब आप गीताके उस श्लोकका रहस्य समझे।'

पण्डितजीने नम्रताभरे शब्दोंमें उत्तर दिया—'अभी समझा नहीं, समझनेके लिये जा रहा हूँ।'

राजा भी उनके साथ ही चल पड़े। तीनों एकान्त पवित्र देशमें जाकर निवास करने लगे। राजा और ब्राह्मणपत्नी तो तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्मा थे ही। उनके सङ्गके प्रभावसे पण्डितजी भी परमात्माको प्राप्त हो गये।

[यह कहानी गीताके बारहवें अध्यायके १६वें श्लोकका निवृत्तिपरक अर्थ करके बतलायी गयी है। इसका जो प्रवृत्तिपरक अर्थ होता है, वह इससे भिन्न है।]

═══ ★ ═══

भगवन्नाम अमूल्य है

गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने मानसमें भगवन्नाम-महिमाका वर्णन करते हुए यहाँतक कहा है कि कलियुगमें केवल भगवान्‌के नामका ही आधार है। गणिका और अजामिल-सदृश बड़े-से-बड़े पापी केवल नामके प्रभावसे सहजमें ही मुक्त हो गये। श्रीहनुमान्‌जीने इसी नामके प्रभावसे भगवान् श्रीरामको अपने वशमें कर रखा है। नामको जीभपर रखनेमात्रसे बाहर और भीतर प्रकाश छा जाता है। नामकी महिमा इतनी अधिक है कि स्वयं भगवान् भी उसका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं—*'राम न सकहिं नाम गुन गाई ॥'* यहाँतक कि भगवान् शिव इस नामकी शक्तिसे ही काशीमें समस्त जीवोंको मुक्ति प्रदान किया करते हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि अन्य शास्त्र भी नाम-महिमासे भरे पड़े हैं, परंतु क्या कारण है कि इसके अनुसार नामका प्रत्यक्ष परिणाम देखनेमें नहीं आता ?

इस प्रकारके तर्क उपस्थित करते हुए कई महानुभाव प्रश्न किया करते हैं। इन सबका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष फल न दीखनेका कारण भगवान्‌के नाममें श्रद्धाकी कमी है। वस्तुतः भगवन्नामकी जो महिमा शास्त्रोंने गायी है, वह उससे कहीं अधिक है! नाम-महिमाकी कोई सीमा ही नहीं है। शास्त्रकथित महिमा तो नामसे लाभ प्राप्त किये हुए महात्माओंके उद्‌गार मात्र हैं। जिस प्रकार ईश्वर और सत्सङ्गकी जितनी महिमा कही जाय, उतनी ही थोड़ी है, उसी प्रकार नामकी महिमाका जितना वर्णन हो, उतना ही थोड़ा है, असलमें

भगवन्नामके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव आदि न जाननेके कारण ही उसके प्रति श्रद्धामें कमी है। श्रद्धाके अभावसे तथा कहीं-कहीं तो श्रद्धासे सर्वथा विपरीत अश्रद्धाके कारण मनुष्यको यथार्थ लाभसे वञ्चित रहना पड़ता है! नामकी तो अमित महिमा है। संसारके किसी भी पदार्थके साथ भगवन्नामकी तुलना नहीं हो सकती। यहाँके जड़ एवं नाशवान् पदार्थोंको लेकर भगवान्‌के नामको तौलने बैठना तो अपनी अज्ञताका ही परिचय देना है।

भगवन्नामके प्रभावपर एक दृष्टान्त

एक बहुत उच्चकोटिके भगवद्भक्त नामनिष्ठ महात्मा थे। उनके समीप उनका एक शिष्य रहता था। एक समयकी बात है कि वे महात्मा कहीं बाहर गये हुए थे; उसी समय उनकी कुटियापर एक व्यक्ति आया और उसने पूछा—'महात्माजी कहाँ हैं?' शिष्यने कहा—'स्वामीजी महाराज तो किसी विशेष कार्यवश बाहर पधारे हैं। आपको कोई काम हो तो कहिये।' आगन्तुकने कहा—'मेरा लड़का अत्यधिक बीमार है, उसे कैसे आरोग्य लाभ हो? महात्माजीकी अनुपस्थितिमें आप ही कोई उपाय बतानेकी कृपा करें।'

शिष्यने उत्तर दिया—'एक बहुत सरल उपाय है—'राम'नामको तीन बार लिख लें और उसे धोकर पिला दें। बस, इसीसे आराम हो जायगा।'

आगन्तुक अपने घर चला गया। दूसरे दिन वह व्यक्ति बड़ी प्रसन्न मुद्रासे महात्माजीकी कुटियापर आया। उस समय महात्माजी वहाँ उपस्थित थे। उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणिपात करके उसने विनम्र शब्दोंमें हाथ जोड़कर निवेदन किया—'स्वामीजी महाराज! आपके शिष्य तो सिद्ध पुरुष हैं। कलकी बात है, मैं यहाँ आया था, उस समय आप कहीं बाहर पधारे हुए थे, केवल ये आपके शिष्य थे।

आपकी अनुपस्थितिमें इन्हींसे मैंने अपने प्रिय पुत्रकी रोग-निवृत्तिके लिये उपाय पूछा। तब इन्होंने बतलाया कि तीन बार 'राम'नाम लिखो और उसे धोकर पिला दो! मैंने घर जाकर ठीक उसी प्रकार किया और महान् आश्चर्य एवं हर्षकी बात है कि इस प्रयोगके करते ही लड़का तुरंत उठ बैठा, मानो उसे कोई रोग था ही नहीं।'

यह सुनकर महात्मा अपने शिष्यपर बड़े रुष्ट हुए और उसके हितके लिये क्रोधका नाट्य करते हुए बोले—'अरे मूर्ख! इस साधारण-सी बीमारीके लिये तूने राम-नामका तीन बार प्रयोग करवाया। तू नामकी महिमा तनिक भी नहीं जानता। अरे, एक बार ही नामका उच्चारण करनेसे अनन्तकोटि पापोंका और भवरोगका नाश हो जाता है और मनुष्य अनामय परमपदको प्राप्त हो जाता है। तू इस आश्रममें रहनेयोग्य नहीं। अतः जहाँ तेरी इच्छा हो, चला जा।' इसपर शिष्यकी आँखोंमें आँसू आ गये और उसने अपने गुरुदेवसे बहुत अनुनय-विनय की। संत तो नवनीत-हृदय होते ही हैं, ऊपरसे भी पिघल गये और उसके अपराधको क्षमा कर दिया।

इसके पश्चात् महात्माजीने चम-चम करता हुआ एक सुन्दर चमकीला पत्थर कहींसे निकाला और उसे शिष्यके हाथमें देकर कहा—'तू शहरमें जाकर इसकी कीमत करा ला। सावधान! इसे किसी कीमतपर बेचना नहीं है; केवल कीमतभर अँकवानी है। कौन क्या कीमत आँकता है, इसे लिखकर लौट आना।'

शिष्य उसे लेकर बाजार चल दिया। सबसे पहले एक साग बेचनेवाली मालिन मिली। उसने पत्थर निकालकर उसे दिखलाया और पूछा—'तू इसकी अधिक-से-अधिक क्या कीमत दे सकती है?' साग बेचनेवालीने पत्थरकी चमक और सुन्दरता देखकर सोचा—'यह बड़ा अच्छा पत्थर है, बच्चोंके खेलनेके लिये बड़ी

सुन्दर वस्तु है।' वह बोली—'इसकी कीमतमें सेर-डेढ़-सेर मूली या आलू या जो साग तुम्हें पसंद हो ले सकते हो।' 'बेचना नहीं है' कहकर शिष्य आगे बढ़ा तो एक बनियेसे भेंट हुई। उससे पूछा—'सेठजी ! इस पत्थरका मूल्य आप क्या दे सकते हैं?' बनियेने विचार किया—पत्थर तो बड़ा ही सुन्दर तथा चमकीला है और खूब वजनदार भी है; अतः सोना-चाँदी तौलनेमें इसका अच्छा उपयोग हो सकता है। उसने कहा—'एक रुपया दे सकता हूँ।' उसे इनकार करके शिष्य आगे चला तो एक सुनारकी दूकानपर पहुँचा। सुनारने देखकर विचार किया कि यह तो अपने बड़े कामकी चीज है। इसे तोड़कर बहुत-से पुखराज बनाये जा सकते हैं। अतः उसने कहा—'अधिक-से-अधिक एक हजार रुपयेतक मैं दे सकता हूँ।'

'बेचना नहीं है' कहकर शिष्य बड़े उत्साहसे अग्रसर हुआ और एक जौहरीकी दूकानपर पहुँचा। पहले गुरुदेवके पाससे चला था, तब तो उसे किसी जौहरीके पास जानेका साहस ही नहीं होता था; पर ज्यों-ज्यों उस पत्थरके मूल्यमें वृद्धि होती गयी, त्यों-ही-त्यों उसका साहस भी बढ़ता गया। अब उसकी दृष्टि भी बदल गयी। उसकी जो यह मान्यता थी कि यह एक साधारण चमकीला पत्थर है, वह नष्ट हो गयी। जौहरीको दिखलाकर उसकी कीमत पूछी। जौहरीने विचार किया तो उसने हीरा समझा और वह उसके मूल्यमें एक लाख रुपये देनेको तैयार हो गया। परंतु बेचना तो था नहीं। अतः शिष्य उसे भी वही उत्तर देकर उच्च कोटिके जौहरियोंके पास पहुँचा। सबने मिलकर उसकी जाँच की और पाँच करोड़ रुपये उसकी कीमत आँकी। तत्पश्चात् वह शिष्य राजाके पास गया। राजा साहेबने शिष्यको बड़े आदरसे बिठलाया और मुख्य-मुख्य सभी बड़े जौहरियोंको बुलाकर उस रत्नका मूल्य आँकनेके लिये कहा। सबने विचार-विमर्शके अनन्तर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'महाराज ! हमने तो ऐसा रत्न

कभी देखा ही नहीं। इसलिये इसकी कीमत आँकना हमलोगोंकी बुद्धिसे परेकी बात है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यदि आप अपना सम्पूर्ण राज्य भी दे दें तो वह भी इसके मूल्यमें पर्याप्त नहीं।'

महाराजने शिष्यसे पूछा—'ऐसा अनुपम रत्न तुम्हें कैसे मिला?' शिष्यने उत्तर देते हुए कहा—'इसे मेरे गुरुदेवने मुझे देकर केवल मूल्य अँकवानेके लिये ही भेजा है, पर बेचनेकी आज्ञा नहीं है।' राजा साहेबने बड़े विनम्र शब्दोंमें कहा—'इसका मूल्य मेरे राज्यसे भी अधिक है। यदि तुम्हारे गुरुजी इसे बेचना चाहें तो इसके बदलेमें अपना सारा राज्य सहर्ष दे सकता हूँ। तुम पूज्य स्वामीजीसे पूछ लेना।' स्वामीजी उच्चकोटिके महात्मा हैं, इस बातको सभी जानते थे। अतः सबने बड़े आदर-सत्कारके साथ उस शिष्यको वहाँसे विदा किया।

शिष्यने महात्माजीके पास लौटकर सारी कहानी उन्हें सुना दी और अन्तमें कहा—'गुरुदेव! मेरी तुच्छ सम्मति तो यह है कि जब राजा साहेब इसके मूल्यमें अपना सारा राज्य ही दे रहे हैं, तब तो इसे बेच ही डालना चाहिये।' महात्माजी बोले—'इसके मूल्यमें राज्य भी कोई वस्तु नहीं। अभीतक इसके अनुरूप इसकी कीमत नहीं आँकी गयी।' शिष्यने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'राज्यसे बढ़कर और कीमत हो ही क्या सकती है?' महात्माजीने कहा—'यहाँ कोई लोहेकी बनी वस्तु मिल सकेगी क्या?' शिष्यने उत्तर दिया—'जी हाँ, आश्रममें कुछ यात्री आये हुए हैं। उनके पास तवा, चिमटा, सँडसी आदि लोहेके पर्याप्त बर्तन हैं। आज्ञा हो तो उनमेंसे कुछ ले आऊँ?' महात्माजीने कहा—'हाँ, ले आओ।'

शिष्य कई लौहनिर्मित वस्तुएँ ले आया। महात्माजीने ज्यों ही उनसे पत्थरका स्पर्श कराया त्यों ही वे सारे लौह-पात्र देखते-ही-देखते

शुद्ध सोनेके बन गये। यह देखकर शिष्यको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने चकित होकर पूछा—'यह तो बड़ी विलक्षण वस्तु है, यह क्या है गुरुदेव ?' महात्माजीने उत्तर दिया—'यह वह स्पर्शमणि (पारस) पत्थर है, जिसके स्पर्शमात्रसे लोहा सोना बन जाया करता है। भला, अब तू ही बता कि इसकी कीमत कितनी होनी चाहिये ?' शिष्य बोला—'संसारमें अधिक-से-अधिक कीमत सोनेकी ठहरायी जाती है और वह कीमत इससे उत्पन्न होती है; फिर इसका मूल्य कैसे आँका जाय।'

महात्माजी—'भगवन्नामका मूल्य तो इससे भी बढ़कर है। क्योंकि यह पारस तो जड पदार्थ है, इससे केवल जड पदार्थोंकी ही प्राप्ति हो सकती है, सच्चिदानन्द परमात्माकी नहीं। अतः किसी भी सांसारिक पदार्थके साथ भगवान्‌के नामकी तुलना करना सर्वथा अनुचित है। इसकी तुलना करनेवाला पारसको सेर-डेढ़-सेर मूली-आलूके शाकमें बेचनेकी मूर्खता करनेवालेसे कम मूर्ख नहीं। जिस प्रकार पारसको न पहचाननेवाला व्यक्ति उससे तुच्छ पदार्थ लेकर सदा कंगाल बना रहता है, उसी प्रकार राम-नामके महत्त्वको न जाननेवाला भी प्रेम और भक्तिकी दृष्टिसे सदैव दरिद्र ही रहता है। तू भगवन्नामके प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको नहीं जानता, इसीलिये एक साधारणसे रोगके लिये तूने राम-नामका तीन बार प्रयोग करवाया। जिस नामके प्रभावसे भयङ्कर भवरोग मिट जाता है, उसे मामूली रोगनाशके लिये उपयोगमें लाना सर्वथा अज्ञता है। तेरी इस अज्ञताको मिटानेके लिये ही तुझे पारस देकर भेजा था।' यह सुनकर शिष्य भगवन्नामका प्रभाव समझ गया और अपनी भूलके लिये बार-बार क्षमा-याचना करने लगा।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा मिलती है कि पारसके

प्रभावसे अनभिज्ञ व्यक्तिको यदि पारस मिल जाय तो वह उसे अज्ञातावश दो-ही-चार रुपयेमें बेच सकता है। यदि वे महात्मा शिष्यको ठीक मूल्यपर पारस बेचनेको कह देते तो वह अधिक-से-अधिक पाँच-सात सेर आलू या एक-दो रुपयेमें अवश्य बेच आता और इसे ही वह अधिक मूल्य समझता। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवन्नामके प्रभावको नहीं जानते, वे उसे स्त्री, पुत्र, धन आदिके बदलेमें बेच डालते हैं ।

भगवन्नामका रहस्य

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि भगवान्‌के नाममें पापोंको नाश करनेकी बड़ी भारी शक्ति है। *'नाम अखिल अघपुंज नसावन'*—यह उक्ति सर्वथा सत्य है; परंतु लोग इसका रहस्य नहीं जाननेके कारण इसका दुरुपयोग कर बैठते हैं। वे सोचते हैं कि नाममें पाप-नाशकी महान् शक्ति है ही; अभी पाप कर लें फिर नाम लेकर उसे धो डालेंगे। यह सोचकर वे अधिकाधिक पाप-पङ्कमें फँसते ही चले जाते हैं । वे यह नहीं विचारते कि यदि वास्तवमें उनकी यह मान्यता ठीक हो, तब तो नामका जप पापोंका विनाशक नहीं, प्रत्युत वृद्धि करनेवाला ही सिद्ध हुआ; क्योंकि फिर तो सभी लोग नामका आश्रय लेकर मनचाहा पाप करने लगेंगे और इससे वर्तमान कालकी अपेक्षा भविष्यमें पापोंकी संख्या बहुत अधिक बढ़ जायगी। जिस प्रकार पुलिसकी पोशाक पहनकर चोरी करनेवाला अन्य चोरकी अपेक्षा अधिक दण्डनीय होता है, उसी प्रकार भगवन्नामकी ओट लेकर पाप करनेवाला व्यक्ति अधिक दण्डका पात्र हो जाता है; क्योंकि उसके पाप वज्रलेप हो जाते हैं; बिना भोगे उसका विनाश नहीं होता। नामकी आड़ लेकर पाप करना तो नामके दस अपराधोंमेंसे एक नामापराध है। नामके दस अपराध ये हैं—

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ हि धर्मान्तरैः
साम्यं नामजपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

१—सत्पुरुष—ईश्वरका भजन-ध्यान करनेवालोंकी निन्दा, २—अश्रद्धालुओंमें नामकी महिमा कहना, ३—विष्णु और शिवके नामरूपमें भेद-बुद्धि, ४-५-६—वेद-शास्त्र और गुरुके द्वारा कहे हुए नाम-माहात्म्यमें अविश्वास, ७—हरिनाममें अर्थवादका भ्रम अर्थात् नाम-महिमा केवल स्तुतिमात्र है, ऐसी मान्यता, ८-९—नामके बलपर विहितका त्याग और निषिद्धका आचरण और १०—अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना यानी शास्त्रविहित कर्मोंसे नामकी तुलना—ये सब भगवान् शिव और विष्णुके नाम-जपमें नामके दस अपराध हैं।

इन दस अपराधोंसे अपनेको न बचाते हुए जो नामका जप करते हैं, वे नामके रहस्यको नहीं समझते।

वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौगुना अधिक लाभदायक है और वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उसका अनन्त फल है; तथा वही गुप्त और निष्काम भावसे किया जाय तो शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। अतः इस रहस्यको भलीभाँति समझकर भगवन्नामका आश्रय लेना चाहिये।

भगवन्नामका तत्त्व

असलमें नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। वे भिन्न होते हुए भी सर्वथा अभिन्न हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** (१०।२५)। 'सब यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ'—अर्थात् अन्य समस्त यज्ञ तो मेरी प्राप्तिके साधन हैं, पर जपयज्ञ (नाम-जप) तो स्वयं मैं ही हूँ। जो इस तत्त्वको हृदयङ्गम कर लेता है, ठीक-ठीक समझ लेता है, वह नामको कभी भूल नहीं सकता।

भगवन्नामके गुण

जो नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका जप करता रहता है वह सद्‌गुणोंका समुद्र बन जाता है। जिस प्रकार सागरमें अनन्त जलराशि होती है, उसी प्रकार उसमें अनन्त सद्‌गुण आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि नाम बीजकी तरह है। जैसे बीजके बो देनेपर उसमेंसे फूलकर अङ्कुर उत्पन्न होता है एवं वही पुष्पित और पल्लवित होकर विशाल वृक्ष बन जाता है, वैसे ही नाम जपनेवालेमें अनायास ही सारे सद्‌गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है।

इसके लिये मनुष्यको भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझना चाहिये। इस प्रकार समझनेसे ही उसकी नाममें परम श्रद्धा होती है और श्रद्धासहित किया हुआ जप ही तत्काल पूर्ण फल देता है। अतः भगवान्‌के नाममें अतिशय श्रद्धा उत्पन्न हो, इसके लिये हमलोगोंको सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। सत्पुरुषोंका सङ्ग न मिलनेपर हमें सत्-शास्त्रोंका—जिनमें भगवान् और उनके नामके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव, श्रद्धा और प्रेमकी बातें बतायी गयी हों—अनुशीलन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे भगवन्नाममें श्रद्धा-प्रेम उत्पन्न हो जाता है और किये हुए जपका फल भी, जिसका शास्त्रोंमें वर्णन है, तत्काल प्रत्यक्ष देखनेमें आ सकता है।

भगवान्‌के शीघ्र मिलनेमें भाव ही प्रधान साधन है

संसारमें क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है। छोटी-से-छोटी क्रिया भी भावकी प्रधानतासे मुक्तितक दे सकती है और उत्तम-से-उत्तम क्रिया भी निम्नश्रेणीका भाव होनेपर नरकमें ले जाती है। जैसे कोई मनुष्य जप, तप, ध्यान, स्तुति, प्रार्थना, पूजा, पाठ, यज्ञ और अनुष्ठान आदि दूसरोंके अनिष्ट या विनाशके लिये करता है तो उसके फलस्वरूप कर्ताको नरककी प्राप्ति होती है। उपर्युक्त अनुष्ठान आदि क्रिया यद्यपि बहुत ही उत्तम है तथापि भाव तामसी होनेके कारण कर्ताकी अधोगति करनेवाली होती है। भगवान् कहते हैं—

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।

(गीता १४। १८)

'तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।'

जब यही उत्तम क्रिया स्त्री, धन, पुत्र आदिकी प्राप्तिके लिये अथवा रोगनिवृत्तिके लिये की जाती है, तब राजसी भाव होनेके कारण उससे मध्यम गति प्राप्त होती है। सारांश यह है कि जिस-जिस भावसे क्रिया की जाती है, उस-उसकी ही प्राप्ति होती है। उपर्युक्त उत्तम क्रिया ही जब कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे भगवदर्थ की जाती है, तब उसका फल अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक ही क्रिया भावके कारण उत्तम, मध्यम और अधम

फल देनेवाली होती है। एक निम्नश्रेणीकी क्रिया है; किंतु भाव यदि उच्चकोटिका है तो वह भी मुक्ति प्रदान करनेवाली हो जाती है। जैसे माता-पिता, गुरुजनोंके रूपमें बच्चोंका शिक्षण और पालन करना, उनके मल-मूत्रकी सफाई करना, डाक्टरके रूपमें चीरफाड़ करना, सड़क आदिकी सफाई करना, जलानेके लिये लकड़ियोंका बोझ ढोना, वस्तुओंका न्याययुक्त क्रय-विक्रय करना, भृत्य तथा सेवाका काम करना—यहाँतककी गंदगी मिटानेके लिये टट्टी-पेशाब साफ करना—इत्यादि जो निम्न श्रेणीकी क्रियाएँ हैं, ये सब भी कर्तव्य समझकर निष्काम-प्रेमभावसे की जायँ तो इनके फलस्वरूप अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्तितक हो सकती है; और ये ही क्रियाएँ सकामभावसे की जायँ तो इनसे अर्थकी सिद्धि होती है।

कहा जाता है, भीलनी शबरी मार्गपर झाड़ू लगाया करती तथा कूड़ा-करकट, काँटे आदि साफ किया करती एवं जंगलसे लकड़ियाँ इकट्ठी करके ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंके पास रख दिया करती थी। यह देखनेमें नीची श्रेणीका काम दीख पड़ता है; किंतु वह उसे निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करती थी, इसलिये उसका भाव उत्तम होनेसे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी।

पद्मपुराणमें कथा आती है—जब नरोत्तम ब्राह्मण तुलाधार वैश्यके यहाँ गया, उस समय तुलाधार ग्राहकोंको माल बेचनेमें लगा था। इस कारण उसने कहा कि 'अभी मुझे अवकाश नहीं है। ग्राहकोंकी यह भीड़ एक पहर रात्रि बीतनेतक रहेगी, उसके बाद ही मुझे अवकाश मिल सकता है। यदि आप इतनी देर न रुक सकें तो आप सज्जन अद्रोहकके पास जाइये। आपके द्वारा जो बगुला मर गया है और आपकी धोती आकाशमें सूखनी बंद हो गयी, इन सबका रहस्य आपको आगे मालूम हो जायगा।' भगवान्‌ने, जो

ब्राह्मणके रूपमें नरोत्तमके साथ-साथ चल रहे थे, कहा—'चलो, हम सज्जन अद्रोहकके पास चलें।' यों कह वे वहाँसे सज्जन अद्रोहकके पास जाने लगे; तब रास्तेमें नरोत्तमने उनसे पूछा कि तुलाधारने मेरे द्वारा बगुलेके भस्म होनेकी बात कैसे जानी ? भगवान्‌ने बतलाया कि क्रय-विक्रयमें सबके साथ सत्य तथा सम व्यवहार करता है, इसीसे इसे तीनों कालोंका ज्ञान है। इसी कारण उस तुलाधारके घरमें भगवान् ब्राह्मणके रूपमें निवास करते थे और अन्तमें वह तुलाधार वैश्य विमानमें बैठकर भगवान्‌के साथ परमधाममें चला गया।

यहाँ विचारना यह है कि तुलाधार वैश्यकी रस आदि क्रय-विक्रयरूप क्रिया तो देखनेमें निम्न श्रेणीकी है; परंतु स्वार्थत्याग, सचाई, ईमानदारी और समताके व्यवहारके कारण वही क्रिया इतनी उच्च हो गयी कि उसे परमपद प्राप्त करानेवाली सिद्ध हुई।

इससे यही बात सिद्ध होती है कि भाव ही प्रधान है, क्रिया नहीं। इसलिये हमें उचित है कि हम जब कभी कोई क्रिया करें, उसे उत्तम-से-उत्तम भावसे करें।

जब नीची-से-नीची क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त करा सकती है, तब फिर जहाँ क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम हो और भाव भी उत्तम-से-उत्तम हो, वहाँ तो कहना ही क्या है। इसी भावको समझनेके लिये निम्नलिखित एक कहानी है—

भगवान्‌का एक भक्त साधक था। वह एक पीपलके वृक्षके नीचे रहकर भजन-ध्यान, गीता-पाठ, साधु-सेवा, तप और उपवास आदि किया करता था। एक समय वहाँ देवर्षि नारदजी पधारे। साधकने उनकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। तदनन्तर जब नारदजी जाने लगे, तब उसने नारदजीसे पूछा—'भगवन्! आप कहाँ जा रहे हैं ?' नारदजीने बतलाया—'मैं भगवान्‌के पास वैकुण्ठमें जा रहा हूँ।'

उसने नारदजीके चरणोंमें सिर नवाया और हाथ जोड़कर उत्सुकता-पूर्वक दीनभावसे प्रार्थना की कि 'क्या आप मेरे लिये भी भगवान्‌से यह पूछ लेंगे कि मुझे उनके दर्शन कब होंगे ?' नारदजीने कहा—'क्यों नहीं, जरूर पूछकर तुझे उत्तर दूँगा !' इतना कहकर नारदजी वहाँसे चल दिये और बड़े प्रेमसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए वैकुण्ठधाम पहुँचे।

भगवान्‌ने पूछा—'नारद ! तुम कहाँसे आ रहे हो ?' नारदजीने कहा—'एक वृक्षके नीचे आपका एक भक्त आपके भजन-ध्यान और तपस्यामें संलग्न है, अभी मैं वहींसे आ रहा हूँ। भगवन्! उसकी सेवा-पूजा, भजन-ध्यान और तपस्या प्रशंसाके योग्य है। प्रभो ! उसने मेरे द्वारा आपसे यह पुछवाया है कि उसे आपके दर्शन कब होंगे !' भगवान् बोले—'नारद ! यह बात मत पूछो।' नारदजीकी उत्सुकता और बढ़ी। उन्होंने कहा—'क्यों नहीं भगवन् ?' भगवान्‌ने उत्तर दिया—'नारद ! वह जिस प्रकार भजन-ध्यान, सेवा-शुश्रूषा और तपस्या कर रहा है, उस प्रकार करते रहनेपर तो उसे मेरे दर्शन होनेमें बहुत विलम्ब होगा। इस प्रकार साधन करनेपर तो उसे उस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षों बाद मेरे दर्शन होंगे।' भगवान्‌की यह बात सुनकर नारदजी सहम गये, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बोले—'भगवन् ! वह तो बहुत तीव्रतासे सेवा-शुश्रूषा, जप-ध्यान, तपस्या आदि कर रहा है; फिर उसके लिये इतना विलम्ब क्यों ?' भगवान्‌ने कहा—'नारद ! तुम इसका रहस्य नहीं समझते, मैं जो कुछ कहता हूँ, वह उससे कह देना।' तदनन्तर नारदजीने भगवान्‌से और भी भक्ति, प्रेम, ज्ञान, वैराग्य-सम्बन्धिनी चर्चा की।

फिर नारदजी वहाँसे लौटकर उसी पीपलके वृक्षके नीचे बैठे हुए उस भक्तके पास पहुँचे। नारदजीको देखते ही भक्त उनके चरणोंमें गिर

पड़ा और बड़ी व्यग्रतासे पूछने लगा—'प्रभो ! क्या मेरी भी चर्चा वहाँ चली थी ?' उसकी व्याकुलताभरी बात सुनकर नारदजी मुग्ध हो गये और बोले—'तुम्हारा प्रसङ्ग चला तो था, किंतु कहनेमें सङ्कोच होता है।' भक्तने कहा—'भगवन् ! सङ्कोच किस बातका है ? क्या भगवान्‌ने साफ इनकार कर दिया ? क्या इस जन्ममें मुझे भगवान् नहीं मिलेंगे ? जो भी हो, आप मुझे बतलाइये तो सही। आप सङ्कोच न करें, मुझे इससे कोई दुःख नहीं होगा।'

उसके आग्रह करनेपर नारदजीने सारी बात ज्यों-की-त्यों बतला दी और कहा—'अन्तमें भगवान्‌ने तुम्हारे लिये यही कहा है कि इस प्रकार साधन करते-करते इस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षों बाद मेरे दर्शन होंगे।' इतना सुनते ही वह भक्त आश्चर्यचकित हो गया और करुणाभावपूर्वक गद्गद वाणीसे कहने लगा—'क्या मुझ-जैसे अधमको भगवान्‌के दर्शन होंगे ? क्या यह बात भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कही है ? अहा ! जब कभी हो, मुझे भगवान्‌के दर्शन तो अवश्य ही होंगे !' नारदजी बोले—'होंगे तो सही; क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं अपने मुखसे कहा है; किंतु होंगे बहुत विलम्बसे।' यह सुनकर कि भगवान्‌के दर्शन अवश्य होंगे, उस भक्तके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उसका भाव एकदम बदल गया। वह आनन्द-विह्वल होकर प्रेमार्द्रभावसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करता हुआ उन्मत्तकी भाँति नाचने लगा। आनन्द और प्रेममें वह इतना निमग्न हो गया कि उसे अपने तनकी भी सुधि नहीं रही। फिर विलम्ब ही क्या था ! भगवान् उसी क्षण वहाँ प्रकट हो गये।

भगवान्‌को देखकर नारदजी अवाक् रह गये। उन्होंने पूछा—'भगवन् ! आप तो कहते थे कि इस प्रकार साधन करते-करते इस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षों बाद मेरे दर्शन होंगे। परंतु वर्षोंकी

बात तो दूर रही, अभी तो एक मुहूर्त भी नहीं बीत पाया है कि आप प्रकट हो गये।' भगवान् बोले—'नारद ! वह बात दूसरी थी और यह बात ही दूसरी है। मैंने तुमसे कहा था न कि तुम इसके रहस्यको नहीं जानते। नारदजीने कहा—'प्रभो ! इसका क्या रहस्य है, वह मुझे बतलाइये।' भगवान् बोले—'नारद ! उस समय तो इसके साधनमें क्रियाकी ही प्रधानता थी; किंतु अब इस समय तो क्रियाके साथ ही इसके भावकी भी प्रधानता है। साधुओंकी सेवा-शुश्रूषा, व्रत, उपवास, तपस्या, गीता-पाठ, सत्पुरुषोंका सङ्ग-स्वाध्याय और भजन-ध्यान आदि साधनरूप मेरी भक्ति करना बहुत ही उत्तम क्रिया है। इन सब क्रियाओंके साथ जबतक अनन्य प्रेमभाव नहीं होता, तबतक उसके लिये विलम्ब होना उचित ही है। जब भक्त अपनेको भुलाकर अनन्य प्रेम-भावमें मुग्ध होकर केवल मेरे भजन-कीर्तनमें ही निमग्न हो जाता है, तब मैं एक क्षण भी नहीं रुक सकता। इस समय इसका जो अपूर्व पवित्र प्रेमपूर्ण भाव है, उसकी ओर तो देखो, उस समय क्रिया उत्तम रहते हुए भी इसका ऐसा भाव नहीं था। इसीलिये मैंने यह कहा था कि 'इस प्रकारका साधन करनेपर तो उस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंके बाद मेरे दर्शन होंगे।' इस रहस्यको सुनकर नारदजी भी प्रेम-विह्वल हो गये और भावावेशमें अपनी सारी सुध-बुध भूलकर भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए उद्दण्ड नृत्य करने लगे।

दोनों भक्तोंकी इस प्रेममयी स्थितिसे स्वयं भगवान् भी प्रेममग्न हो गये। उनकी भी वैसी ही स्थिति हो गयी। भगवान्की तो यह प्रतिज्ञा ही ठहरी—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यों कुछ समयतक विचित्र प्रेमराज्यकी प्रगाढ़ स्थितिमें रहनेके अनन्तर तीनोंको जब बाह्य चेतना हुई, तब वे प्रेममें मुग्ध हुए परस्पर बातचीत करने लगे। तदनन्तर भगवान् उस भक्तके साथ विमानमें बैठकर परमधाममें पधार गये और नारदजी प्रेममें विभोर होकर भगवद्गुणानुवाद गाते हुए अपने गन्तव्य स्थानकी ओर चल दिये।

इस प्रसङ्गसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि समस्त क्रियाओंमें भगवान्‌की भक्ति उत्तम है तथा उस भक्तिके साथ निष्काम और अनन्य प्रेमभावका समावेश होनेपर फिर भगवान्‌के मिलनेमें एक क्षणका भी विलम्ब नहीं होता। इसलिये उपर्युक्त प्रकारसे निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही निरन्तर भजन-ध्यानादि उत्तम क्रिया करनी चाहिये।

प्रवीर*का अलौकिक भगवत्प्रेम

प्रवीर माहिष्मती नगरीके नरेश श्रीनीलध्वजके पुत्र थे। इनकी जननी जुन्हादेवी सरल, साध्वी एवं धर्मपरायणा थीं। भगवद्भक्तिके साथ-साथ वे बड़ी स्वाभिमानिनी, वीराङ्गना और धैर्यशीला भी थीं। इनके अत्यन्त पवित्र जीवनका प्रभाव इनके पुत्र प्रवीरपर पूर्णतया पड़ा। फलतः प्रवीरमें भी सरलता, सौजन्य, सत्प्रेम और भगवद्भक्ति कूट-कूटकर भर गयी। वीरता उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे छलकती दीखती थी, पर वे निरन्तर भगवच्चिन्तन एवं उनके प्रेममें तन्मय रहा करते थे।

उन दिनों इन्द्रप्रस्थमें कौरवोंको पराजित कर धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर महाराज राज्य कर रहे थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके परामर्शसे अश्वमेध-यज्ञ करनेका निश्चय किया। अश्व छोड़ा गया। उसकी रक्षाके लिये धनुर्धर अर्जुन नियत हुए। उनके साथ विशाल वाहिनी थी। यात्राके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनके साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की; किंतु इस छोटे-से कार्यके लिये आपको कष्ट देना अपेक्षित नहीं। भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर लेनेके लिये तो मैं और यह सेना ही पर्याप्त है—कहकर अर्जुन चल पड़े। अर्जुनके मुखपर छिपी अभिमानकी रेखा चमक रही थी।

'वीरवर अर्जुनके साथ युद्ध करनेका जिन्हें साहस हो, वे इस

---

* बंगालके प्रचलित लीलाभिनयों (यात्राओं) में प्रवीरकी लीला की जाती है। वह बड़ी ही सुन्दर और मनोहर है। यह आख्यायिका उसीके आधारपर लिखी गयी है। यह कहाँतक सच्ची है, इसका पता नहीं। प्रवीरकी कथा 'जैमिनीयाश्वमेध'में भी आती है, पर वह अन्य रूपमें है।

अश्वको पकड़ें, अन्यथा उपहारसहित महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञमें नियत समयपर उपस्थित हों।'—अश्वके मस्तकपर स्वर्णपत्रमें लिखा हुआ था। सबके आगे झूमता हुआ अश्व चला जा रहा था और उसके पीछे वीरवर अर्जुनके साथ सशस्त्र विपुल वाहिनी चल रही थी।

कोई नहीं दीखता था, जो अश्वकी ओर पूर्णतया देखनेका साहस कर सके। पथमें जितने भी राजा-महाराजा मिले, सबने सर्वत्र स्वागत किया और युधिष्ठिर महाराजकी अधीनता स्वीकार की। इसी प्रकार वह अश्व माहिष्मतीके समीप पहुँचा।

प्रवीरके पिता माहिष्मतीनरेश नीलध्वज अर्जुनका नाम सुनते ही सशङ्क हो गये। उन्होंने अश्वको न पकड़नेमें ही कुशल समझी, पर इस संवादसे वीराङ्गना जुन्हादेवी क्षुब्ध हो गयीं। उन्होंने अपने पतिदेवके इस कृत्यको कायरता समझा तथा ऐसे अनेक प्रयत्न किये, जिससे वे अपने क्षत्रियत्वकी प्रतिष्ठा-रक्षार्थ अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत हो जायँ, पर नीलध्वज अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुए।

पतिसे निराश होते ही जुन्हादेवी अपने प्राणप्रिय पुत्र भक्त प्रवीरके समीप गयीं और उसे प्रतिष्ठा-रक्षार्थ समरमें डट जानेके लिये प्रोत्साहित करती हुई बोलीं—'बेटा! मैं तुम्हें अपने प्राणोंसे अधिक प्यार करती हूँ, साथ ही तुमसे देश, जाति और स्वाभिमानकी रक्षाकी आशा भी करती हूँ। अर्जुनकी विशाल वाहिनी अश्वमेधके अश्वके साथ तुम्हारे क्षत्रियत्वको, तुम्हारी वीरताको, तुम्हारी स्वतन्त्रता एवं तुम्हारे देशाभिमानको ललकार रही है। पर मैं चाहती हूँ कि वह यहाँसे विजयोन्मत्त बनकर न जा सके। तुम उठो, अति शीघ्र उठो! अश्वमेधके अश्वको पकड़कर अर्जुनको उलटे पाँव लौटनेके लिये विवश कर दो। उनकी मदोन्मत्त चतुरङ्गिणीको अपने तीक्ष्ण शरोंसे बेधकर एक क्षणके लिये भी यहाँ टिकने न दो।'

'माँ ! श्रीकृष्ण-सारथि वीरवर अर्जुन ! ....' 'प्रवीर चकित होकर बोल भी नहीं पाया कि उसकी स्नेहमयी जननीने दुर्गाकी भाँति हुंकार करके कहा—'हाँ, वही अर्जुन ! यदि तुझे एक क्षण भी विचार करना हो तो स्पष्ट बोल, मैं स्वयं युद्ध करनेके लिये अर्जुनके विशाल सैन्यमें प्रवेश करूँगी। मैं समझूँगी कि मैंने पुत्रको जन्म ही नहीं दिया था।'

'आज्ञा शिरोधार्य है माता ! तुम निश्चय ही अन्तःपुरमें जाओ।' प्रवीरके इस कथनसे संतुष्ट हो माता भीतर चली गयी और प्रवीरने अर्जुनके पास पत्र भेजा—'मैं आपका अश्व रोक रहा हूँ। आप रणाङ्गणमें आ जाइये।'

दूत उत्तर ले आया। वीर प्रवीरने पढ़ा—'वीर ! क्षत्रियोचित पत्र पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई; एतदर्थ अत्यन्त प्रसन्न होकर मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ; किंतु तुम अभी नन्हें बच्चे हो। जीवनका आनन्द छोड़कर मृत्यु-मुखमें जानेके लिये मचलना अच्छा नहीं।' प्रवीरने तुरंत पत्र लिखा—'वीरवर ! कायरतापूर्ण वाणी आपको शोभा नहीं देती। युद्ध करनेकी इच्छा न हो तो आप इन्द्रप्रस्थ लौट जा सकते हैं। अश्वको मैं नहीं छोड़ सकूँगा।'

फिर क्या था। दूसरे दिन अरुणोदय होते ही समर छिड़ गया। भयंकर युद्ध हुआ। भक्तवर वीर प्रवीरके पैने बाणोंसे अर्जुन आकुल हो उठे। उन्होंने प्रद्युम्नसे कहा—'प्रवीरकी सुकुमारताका विचार छोड़कर तुम शरवर्षा करो।' पर प्रद्युम्नने तुरंत कहा—'आपकी भाँति वीर प्रवीर भी मेरे पिताजीके प्रिय भक्त हैं। अतः इनकी भक्तिका ध्यान आनेपर मेरा हाथ शिथिल पड़ जाता है और मैं पूरे वेगसे युद्ध नहीं कर सकता।' इसके बाद महाबली भीम आगे आये; किंतु भगवच्चरणाश्रित भगवान्‌के बलसे बलवान् प्रवीरके चुटीले तीरोंके सामने उनकी एक न चली। यह दशा देखकर अत्यन्त क्रोधसे अर्जुनने

आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया; पर अग्निकी भीषण ज्वालाएँ प्रवीरके बाणोंकी वारिधाराके सामने शीतल हो गयीं। इसी प्रकार अर्जुनने जिन-जिन भयंकर एवं विषैले बाणोंको प्रवीरका मस्तक छिन्न करनेके लिये चलाया, वे सभी व्यर्थ सिद्ध हुए। राजकुमार प्रवीरने अर्जुनसमेत उनके सैन्यको विकल एवं पराजित कर दिया।

अर्जुनके वीरत्वदीप्त मुख-मण्डलपर विषादकी कालिमा छा गयी। उसी समय प्रवीरने आकर कहा—'वीरवर अर्जुन ! अश्वमेधका घोड़ा इसी बलपर छोड़ा था ? मैं आपको स्पष्ट बता देता हूँ कि यदि आपको अपने प्राण प्यारे न हों, तब तो आप कल पुनः समर-भूमिमें आइयेगा, अन्यथा अब सुखपूर्वक लौट जाइये और यहाँ उस दिन उपहार लेकर आइये, जिस दिन इस घोड़ेसे मैं अश्वमेध यज्ञ करूँगा। आप भगवान् श्रीकृष्णकी सहायताके बिना मुझपर विजय कभी नहीं पा सकते। मुझे जीतनेकी आकाङ्क्षा मनमें हो तो श्रीकृष्णको बुलाइये, उनके दर्शन करके मैं भी कृतकृत्य हो जाऊँगा।' प्रवीर कुछ क्षणोंके लिये भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो गया।

पर प्रवीरकी वाणी अर्जुनके हृदयमें तीरकी भाँति प्रवेश कर गयी। उन्होंने अब भगवान्‌के सामने अभिमानभरी वाणीमें कहनेकी अपनी भूलका अनुभव किया। तुरंत व्याकुल होकर भगवान्‌से प्रार्थना की—'हे हरि ! हे गोविन्द !! हे वासुदेव !! हे नारायण !!! मेरी अनुचित वाणीके लिये क्षमा करें। आप सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर हैं। आप शीघ्र आकर मेरी रक्षा करें।' अर्जुनकी पुकार सुनते ही भक्त-भय-भञ्जन भगवान् तुरंत वहाँ प्रकट हो गये, मानो अबतक यहीं कहीं छिपे थे।

भगवान्‌को देखते ही अर्जुन उनके चरणोंमें गिर पड़े। प्रभुने दृष्टि फेरी तो देखा, प्रवीर भी प्रभुके पावन चरणोंमें दण्डकी भाँति लेटकर

प्रणिपात कर रहा है। भगवान् अर्जुन और प्रवीर दोनोंसे मिले। प्रवीर गद्गद हो रहा था। हर्षातिरेकसे उसने कहा—'प्रभो ! आपके दर्शन पाकर आज मैं धन्य हो गया।' उसने फिर अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! मैं आपका भी ऋणी हूँ। आपकी ही कृपासे मुझे आज श्यामसुन्दरकी त्रैलोक्यपावनी मधुर मनोहर झाँकीके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अब हम अपने शिविरमें चलें। कलसे भगवान्के सामने ही युद्ध होगा। फिर दोनों अपने-अपने शिविरोंमें चले गये।

प्रवीरको देखते ही देवी जुन्हाने उन्हें छातीसे चिपका लिया और कहा—'बेटा ! तुम्हारी विजयके लिये मैं भगवती भागीरथीकी आराधना करने जा रही हूँ।' प्रवीरकी वीरहृदया धर्मप्राणा पत्नी मदनमञ्जरीने अत्यन्त आनन्द प्रदर्शित करते हुए कहा—'भगवान् श्रीकृष्णको अपनी भक्तिसे प्रसन्न करके मैं भी आपकी विजयके लिये उनसे प्रार्थना करूँगी।' प्रवीर भी भगवान्के ध्यानमें तल्लीन था।

आधी रात बीत गयी। इधर प्रवीरपत्नी मदनमञ्जरीने अर्जुनके सुषुप्त सैन्यमें प्रवेश किया। उसके हाथमें लम्बी नंगी तलवार थी। प्रहरीके स्थानपर भगवान् शंकर त्रिशूल लिये खड़े थे। उन्होंने मदनमञ्जरीका परिचय और अर्धरात्रिमें नंगी तलवार लेकर शिविरमें आनेका कारण पूछा।

मदनमञ्जरीने निःसंकोच सत्य कह दिया—'मैं प्रवीर-पत्नी हूँ। अपने पतिके प्राणोंकी रक्षाके लिये भगवान् श्रीकृष्णके पास जाना चाहती हूँ।'

भगवान् शंकर बोल उठे—'यह सम्भव नहीं। भगवान् सो रहे हैं। तुम वापस लौट जाओ।'

'यदि ऐसा ही है तो फिर आपके ही चरणोंमें यह मस्तक अभी लोट जायगा'—कहते हुए मदनमञ्जरीने तलवार ऊपर उठा ली।

भगवान् शंकरने अपना परिचय देते हुए कहा—'मैं तुमपर

अत्यन्त प्रसन्न हूँ और कैलास जा रहा हूँ। यहाँसे प्रयाण करनेके पश्चात् मेरा कोई दायित्व नहीं है।'

मदनमञ्जरी श्रीकृष्ण-शिविरके द्वारपर पहुँची तो द्वारपालने डाँटते हुए वहाँ उपस्थित होनेका कारण पूछा। मदनमञ्जरीने विनम्रतासे द्वारपालको भी उत्तर दिया—'अपने प्राणधनके प्राणोंकी भीख माँगने महाराज नीलध्वजकी पुत्र-वधू भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंके समीप जाना चाहती है।'

द्वारपालने कहा—'यहाँसे लौट जाओ। प्रभु इस समय शयन कर रहे हैं।'

मदनमञ्जरीने तलवार तान ली और कहा—'यदि आप भगवान्‌के समीप नहीं जाने देते तो मैं अभी अपना मस्तक काटकर आपके चरणोंमें समर्पित करती हूँ।'

द्वारपालने मदनमञ्जरीका हाथ पकड़ लिया, पर उसने देखा—ये तो वे ही त्रैलोक्यनाथ मदनमोहन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जिनके लिये वह प्राणोंपर खेलकर आयी थी। वह प्रभुके चरणोंपर लोट गयी। कुछ देर बाद उसने कहा—'प्रभो! आप तो अन्तर्यामी हैं, पर कहे बिना मुझसे रहा नहीं जाता। प्रातःकाल ही धनुर्धर अर्जुनसे मेरे पतिदेवका युद्ध होगा। धनुर्धर अर्जुनको आपकी सहायता प्राप्त है और आपकी सहायता पाकर वे जो चाहें कर सकते हैं। इस कारण मैं आपसे अपने जीवन-धनके प्राणोंकी भीख माँगती हूँ।

अपनी कौमोदकी गदा और सहस्रार सुदर्शनचक्र उसके हाथमें देते हुए भक्तवत्सल करुणामय भगवान्‌ने कह दिया—'इसे जबतक प्रवीर अपने पास रखेगा, युद्धमें उसे कोई नहीं मार सकेगा।' मदनमञ्जरीने भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और द्रुतगतिसे लौटकर दोनों आयुध अपने पतिको दे दिये। भगवान्‌की बात भी बता दी।

उधर धर्मपरायणा जुन्हादेवीने श्रीगङ्गाजीको संतुष्ट कर लिया और

श्रीशिवजीसे प्रार्थना करनेके लिये कहा कि 'वे अपने त्रिशूलके साथ प्रवीरकी ओरसे युद्ध करें। श्रीगङ्गाजीकी प्रार्थना सुनते ही आशुतोषने कहा—'अर्जुनके साथ श्रीकृष्ण हैं और उनके सामने समरभूमिमें उतरना मेरे लिये सम्भव नहीं।'

प्रातःकाल होते ही अर्जुन अपने सखा श्रीकृष्णके पास पहुँचे तो देखा कि वे उदास और चिन्तित मुद्रामें अवनतमुख बैठे हैं। अर्जुनको देखते ही उन्होंने कहा—'बन्धुवर! प्रवीर-पत्नीकी भक्तिसे संतुष्ट होकर अपने दोनों आयुध मैंने उसे समर्पित कर दिये और जबतक वे आयुध उसके पास हैं, तुम उसका कोई अनिष्ट नहीं कर सकते। मेरी उपस्थितिसे प्रत्येक समय तुम्हारे शुभमें विघ्न ही उपस्थित हो जाता है।'

भगवान्‌की वाणी सुनते ही भीम क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा—'आपको सोच-विचारकर वरदान देना था। आप हमारी रक्षा करनेके लिये आये हैं कि और भी विपत्ति लादनेके लिये यहाँ पहुँचे हैं।' पर भीमको बड़ी विनयसे चुप कराते हुए अर्जुनने सरल विश्वासपूर्वक भगवान्‌से विनम्र शब्दोंमें कहा—'यह क्या कहते हैं प्रभो! आपकी प्रत्येक क्रियामें मङ्गल छिपा है, इसपर मेरा दृढ़ विश्वास है। इस आयुध-दानमें भी मेरा कोई हित ही है। मैं पूर्ण निश्चिन्त हूँ। आप मेरे सर्वस्व हैं। आपने ही इस यज्ञके अनुष्ठानकी प्रेरणा एवं इसकी निर्विघ्न समाप्तिका वचन दिया है। आप जैसा उचित समझें, वैसा करें।'

भगवान् श्रीकृष्ण चुप थे। उन्हें अपने ऊपर निर्भर अर्जुनकी चिन्ता थी। वे बोल नहीं पा रहे थे। अर्जुनने पुनः कहा—'प्रभो! प्रातः हो चला। युद्धका समय आना ही चाहता है। अब आपकी क्या आज्ञा है?'

भगवान्‌ने कहा—'आओ, श्रीशंकरजीके पास चलें। वे कोई युक्ति सोचकर बता सकते हैं। वे दोनों भगवान् श्रीशंकरजीके समीप

गये। वहाँ श्रीकृष्णने कहा—भगवन्! प्रवीर-पत्नीकी भक्तिपर मुग्ध होकर मैंने अपनी कौमोदकी गदा तथा चक्र भी उसके पतिके लिये दे दिया। वे जबतक प्रवीरके पास रहेंगे, युद्धमें उसे कोई नहीं मार सकेगा। अब अर्जुन कैसे विजयी हों, इसीका उपाय जाननेके लिये हम दोनों आपकी सेवामें आये हैं।'

श्रीशंकरजी बोले—'सर्वज्ञ होकर भी आपने उसे वरदान कैसे दे दिया?' श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'जिस प्रकार उसकी भक्तिपर मुग्ध होकर आप रात्रिमें कैलास चले आये, उसी प्रकार भक्ति-विवश होकर मुझे भी वरदान देना पड़ा।'

भगवान् शंकरने धीरे-धीरे कहा—'मैं भी बड़े असमञ्जसमें पड़ गया हूँ। उधर प्रवीरकी माता जुन्हाकी आराधनासे संतुष्ट होकर श्रीगङ्गाजी प्रवीरके पक्षमें त्रिशूल लेकर अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये आग्रह कर रही हैं। इधर आपका अनुरोध है। ऐसी दशामें मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं किसी भी पक्षकी ओरसे युद्धभूमिमें नहीं उतरूँगा।'

निराशाभरे स्वरोंमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'भाई अर्जुन! मेरी पहुँच तो यहींतक थी और इन्होंने स्पष्ट उत्तर दे दिया। अब क्या किया जाय।' अर्जुनने उत्तर दिया—'महाराज! मैं तो कुछ नहीं जानता। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि आप जो कुछ करेंगे, उसीमें मेरा अवश्य हित होगा। हाँ, युद्धका समय समीप आ रहा है।'

भगवान्‌ने एक क्षण सोचा और फिर वे अर्जुनके साथ भगवती उमाके पास गये। वहाँ उन्होंने श्रीयुधिष्ठिर महाराजके अश्वमेध-यज्ञानुष्ठान एवं प्रवीरकी बाधा तथा अपने आयुधद्वय और वरदान देनेकी बात भी सुना दी एवं अर्जुनकी विजयकी प्रार्थना करते हुए कहा कि 'यदि आप समरभूमिमें मोहिनीरूपमें आकर उससे आयुध ले लें

तो हम दोनों निश्चिन्त हो जायँ।' भगवती उमाने 'तथास्तु' कह दिया। श्रीकृष्ण तो यही चाहते थे। अर्जुनके साथ लौट पड़े।

अर्जुन युद्धभूमिमें पहुँचे तो उन्होंने देखा—प्रवीर अपनी विशाल वाहिनीके साथ युद्धकी प्रतीक्षा कर रहा है। युद्ध प्रारम्भ होना ही चाहता था कि प्रवीरने अपनी आँखोंके सामने आकाशमें एक नवयौवनसम्पन्ना अपूर्व लावण्यवती सुन्दरीको देखा। विश्वमें ऐसी सुन्दरता होती है, इसकी उसे कल्पना भी नहीं थी। भगवान्‌की अघटन-घटना-पटीयसी मायाने जितेन्द्रिय भक्त प्रवीरकी मतिमें मोह उत्पन्न कर दिया और वह एक विषयी कामासक्त मनुष्यकी भाँति उस देवीसे प्रणय-याचना करने लगा। मायाकी ऐसी ही महिमा है।

परम सुन्दरी देवीने कहा—'युद्धभूमिमें प्रेमकी बात प्रलाप-सी लगती है। यदि तुम सचमुच प्रेमदान चाहते हो तो अपने आयुध फेंक दो।' मायामोहित प्रवीर इस समय मूढ़ बन गया था। उसने श्रीकृष्ण-प्रदत्त दोनों आयुध फेंक दिये। भगवती उन्हें उठाकर तुरंत अन्तर्धान हो गयीं। मायाका पर्दा हटा, प्रवीरकी आँखें खुलीं तो उसने मन-ही-मन पश्चात्ताप करते हुए कहा कि 'मैंने क्या अनर्थ कर डाला।'

अन्तमें उसने सोचा—कदाचित् यह कार्य भगवान्‌ने ही किया है। प्रेमपूर्वक रोष प्रकट करते हुए उसने भगवान्‌से कहा—'प्रभो! वे अस्त्र यदि माया करके ले ही लेने थे तो आपने देनेका नाट्य क्यों किया?' भगवान्‌ने उत्तरमें कहा—'प्रियवर प्रवीर! मैंने अस्त्र नहीं लिये हैं। यदि मुझे ही उन्हें लेना होता तो मैं देता ही क्यों? प्रवीर तुरंत बोल उठा—'प्रभो! यदि ऐसी बात है तो आपके लिये अर्जुनकी सहायता करना उचित नहीं। मैं भी आपको अपने प्राणोंसे अधिक मानता हूँ। आपके चरणमें मेरी अनुरक्ति कम नहीं है।'

प्रवीरकी बात सुनते ही अर्जुनने कहा—'प्रभो! मैंने आपको

युद्धमें सहायता देनेके लिये बुलाया है। प्रवीरमें शक्ति न हो तो अश्व छोड़ दे।' प्रवीरने रोषपूर्वक उत्तर दिया—'अश्व मैंने छोड़नेके लिये नहीं पकड़ा है।' फिर क्या था—दोनों ओरसे घनघोर शर-वर्षा होने लगी। आकाश तीखे बाणोंसे अच्छादित हो गया; पर अर्जुनकी एक न चली, वे पराजित होने लगे।

भगवान्ने कहा—'अर्जुन! प्रवीरके प्रभावको देख लो। मेरे सहायता करनेपर भी वह तुम्हें पराजित कर रहा है।' अनवरत बाण-वर्षा करते हुए अर्जुनने उत्तर दिया—'प्रभो! इसीलिये तो मैंने आपको बुलाया है। अब मैं आपकी कृपासे इसे तुरंत पराजित कर देता हूँ।'

अर्जुनने अपने पैने बाण चलाये, पर प्रवीरने उन्हें बीचमें ही खण्ड-खण्ड कर दिया। अर्जुन जो भी अस्त्र क्रुद्ध होकर चलाते, प्रवीर उसे ही नष्ट कर देता; पर अन्ततः उस दिन अर्जुनने प्रवीरको पराजित किया।

प्रवीरने रोषपूर्वक कहा—'अर्जुन! इसे मैं आपकी नहीं, अपितु प्रभुकी विजय मानता हूँ। प्रभुके बिना आप मुझे पराजित कर दें तो मैं आपको वीर समझूँ।' अर्जुन बोले—'मैंने जब भगवान्को बुलाया है, तब उन्हें क्यों छोड़ूँ। तुम्हें युद्ध न करना हो तो वापस चले जाओ।'

अर्जुनकी यह बात सुनते ही भक्त प्रवीरने कहा—'स्वामिन्! आप तो सबके हैं, फिर युद्धभूमिमें यह पक्षपात कैसा!' इसी क्षण उसने प्रभुकी विश्वमोहिनी मुसकान देखी। फिर क्या था। उन्हें संतुष्ट देखकर प्रवीरने अर्जुनके रथसे खींचकर उनको अपने रथपर बैठा लिया। भगवान्ने लगाम ले ली। अत्यन्त गर्वके साथ प्रवीरने कहा—'अर्जुन! अब जीभर युद्ध कर लें। अब आपको या तो प्राण लेकर भागना पड़ेगा या सदाके लिये यहीं रणभूमिमें शयन करना होगा।'

प्रवीरको कोई भी उत्तर न देकर अर्जुनने भगवान्से कहा—

'भगवन्! मैं आपके बिना नहीं जी सकता। आप मेरे रथपर आ जाइये। आपको मैंने बुलाया है।' इसपर भगवान्‌ने अर्जुनके रथपर आकर घोड़ोंकी लगाम सँभाल ली।

उदास होकर प्रवीरने कहा—'प्रभो! कम-से-कम एक युद्धमें तो आप मेरे सारथि बन जाते!' फिर उसने अर्जुनसे कहा—'आज मैं आपका पौरुष देखूँगा।'

अर्जुन बड़ी सावधानीसे अपने तीक्ष्ण शरोंकी वर्षा करने लगे; पर प्रवीर साधारण वीर नहीं था। उसके सामने अर्जुन विचलित होने लगे। इसी बीचमें भगवान् बोल उठे—'मेरी सहायता पाकर भी तुम विजय नहीं प्राप्त कर रहे हो?' प्रबल आग्नेयास्त्र फेंकते हुए अर्जुनने कहा—'महाराज! थोड़ा धैर्य रखिये, मैं इसे अभी परास्त करता हूँ।'

परंतु वे विफल रहे। अन्य कई दिव्यास्त्रोंके प्रयोगसे प्रवीर परास्त हुआ, पर उसने अर्जुनको फटकारते हुए कहा—'दूसरोंके बलपर युद्ध करनेवाले शूर नहीं कहे जाते। भगवान्‌के बिना आप मुझे परास्त कर सकें, ऐसी सामर्थ्यका आपमें लेश भी नहीं है।'

फिर उसने भगवान्‌से कहा—'प्रभो! आप हम दोनोंके हैं। आप अब अर्जुनका रथ हाँकना छोड़कर निष्पक्षभावसे हम दोनोंका युद्ध-कौशल देखें, फिर आप समझ लेंगे कि वस्तुतः वीर योद्धा कौन है और आज अर्जुन भी समरका स्वाद चख सकेंगे।'

भगवान् हँसने लगे। भक्तवर प्रवीरने भगवान्‌को संतुष्ट जानकर पुनः उनको अर्जुनके रथसे खींच लिया और पासके ही तालवृक्षसे बाँध दिया। फिर उसने अर्जुनसे कहा—'अर्जुन! अब आप अपनी वीरताका परिचय दीजिये। अब मैं आपको युद्ध करनेका फल चखाता हूँ।' पर अर्जुनने करुण नेत्रोंसे भगवान्‌की ओर देखकर कहा—'प्रभो! क्या मैंने आपको इसीलिये बुलाया था? कौरवोंकी सभामें

जब महाबलशाली योद्धा भी आपको नहीं बाँध सके, तब यहाँ आप कैसे बँध गये ? मैं व्याकुल हो रहा हूँ, देव ! आप शीघ्र आइये, मेरे रथकी बागडोर सँभालिये।' जिनके एक नामसे सारे बन्धन कट जाते हैं, वे ही अचिन्त्यशक्ति भगवान् आज अपने प्रेमी भक्तकी प्रेमरज्जुसे बँधे हैं, पर दूसरी ओर भी वैसा ही भक्त है। उसकी दीन वाणी भी भगवान्‌को खींच रही है। भगवान् अर्जुनकी दीन वाणी सुनते ही रस्सी तुड़ाकर उसके रथपर आकर बैठ गये और रथ हाँकने लगे। भगवान्‌की आज विचित्र दशा है। वे प्रेमी भक्तोंकी खींचातानीमें प्रेममय होकर आश्चर्यमयी क्रीडा कर रहे हैं !

प्रवीरसे रहा नहीं गया। उसने पुनः भगवान्‌से कहा—'प्रभो ! बड़ा आश्चर्य है, कुछ क्षण भी तटस्थ होकर आप दो भक्तोंका युद्ध और वीरत्व तो देखते। पर आपकी जैसी इच्छा !' उसने पुनः अर्जुनको सम्बोधित कर कहा—'वीरता नामकी कोई वस्तु आपमें नहीं है। दूसरोंके सहारे वीरोंको पराजित करनेका प्रयत्न तो समरभूमिमें बड़ा ही अशोभन है।' और उसने रोषमें आकर इतने तीक्ष्ण शरों एवं दिव्यायुधोंकी वर्षा की कि अर्जुन विकल हो उठे और उनकी सारी सेना क्षत-विक्षत होकर छिन्न-भिन्न हो गयी। यहाँ भी भगवान्‌की ही लीला कार्य कर रही थी।

इसपर आश्चर्य प्रकट करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'जब एक प्रवीरके सम्मुख ही तुम्हारी यह दशा है, तब तुम अन्य योद्धाओंके सामने क्या कर सकोगे ?' अर्जुनने तुरंत अपनी भागती हुई सेनाको क्षत्रियोंकी वीरगति एवं उनकी मर्यादाका ध्यान दिलाकर युद्धके लिये प्रोत्साहित किया। विशाल वाहिनी पुनः पूरी शक्तिसे प्रवीरकी सेनासे भिड़ गयी। अर्जुन भी अपने बाणोंकी अपूर्व वर्षामें संलग्न हो गये। दोनों पक्ष अपनी विजयके लिये शक्ति-प्रयोग कर रहे थे। इस प्रकार

होते-होते अन्तमें आज प्रवीर हार गया और अर्जुनकी विजय हुई।

किंतु वीर प्रवीरको तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उसने पुनः अर्जुनको डाँटा—'अर्जुन! आप सच्चे वीरत्वको स्वीकार कीजिये। यदि श्रीकृष्णके बिना आप युद्ध करें तो आपको प्राणरक्षामें भी कठिनता हो जाय।' फिर उसने भगवान्‌से कहा—'स्वामिन्! मैं भी आपका भक्त हूँ, पर आज आप अबतक अर्जुनमें और मुझमें अन्तर समझते हैं। ऐसा क्यों करते हैं, नाथ! मुझे आपसे बड़ी आशा है।'

भगवान् हँस पड़े। प्रवीरने उन्हें अपने अनुकूल समझकर तुरंत खींच लिया और पासके ही तालवृक्षसे पुनः कसकर बाँधते हुए कहा—'प्रभो! अबकी बार प्रतिज्ञा कीजिये कि किसीका पक्ष न लेकर निष्पक्षभावसे युद्ध देखूँगा!' प्रभुने हँसते हुए मौन स्वीकृति दे दी।

फिर क्या था, प्रवीर झटसे कूदकर अपने रथपर जा चढ़ा और शर-संधान करते हुए बोला—'पार्थ! अब आप प्राण बचाकर भागने या यहीं सदाके लिये सो जानेको प्रस्तुत हो जाइये।' प्रभु प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके हैं। प्रभु बँधे हुए हँस रहे थे; मानो आज उन्हें अपनी इस विवशतामें ही आनन्द मिल रहा है।

पर अर्जुन प्रभुकी ओर देख रहे थे। उन्होंने कहा—'देव! यह क्या लीला कर रहे हैं। मेरे प्राणोंपर आ बनी है । अब मैं अधीर हो गया हूँ। कौरव-युद्धके समय आपने मेरी रक्षाके लिये शस्त्रग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी; पर भक्तके लिये उसे तोड़ दिया। वही आपका प्राणप्रिय अर्जुन मरना चाहता है, इसलिये आज फिर प्रतिज्ञा तोड़िये और शीघ्र आकर मेरी रक्षा कीजिये।' भगवान् तुरंत अर्जुनके रथपर प्रकट हो गये। वे वैसे ही हँस रहे थे।

प्रवीरने व्याकुल होकर कहा—'प्रभो! यह आपने क्या किया? आपने अपनी प्रतिज्ञा भी तोड़ दी!' भगवान्‌ने तुरंत कहा—'मैंने तो

कोई प्रतिज्ञा नहीं की थी।'

भक्त प्रवीरने प्रणय-रोषसे कहा—'प्रभो ! आप असत्य बोलेंगे तो संसारकी क्या दशा होगी। आपने प्रतिज्ञा की थी कि मैं चुपचाप युद्ध देखूँगा; पर आप पुनः अर्जुनके रथपर आकर बैठ गये।'

भगवान्‌ने कहा—'जिसने प्रतिज्ञा की थी, उससे कहो भैया !' प्रवीरने तालवृक्षकी ओर देखा तो भगवान् वहीं बँधे खड़े थे। उसने एक बार तालवृक्ष और एक बार अर्जुनके रथकी ओर देखा। अब एक ही भगवान्‌के दो रूप हो गये थे। प्रवीरने अर्जुनसे कहा—'अर्जुन ! आप महान् धन्य हैं और आपके माता-पिता सभी धन्य हैं; जिनके लिये भगवान्‌को दो रूप धारण करने पड़े।'

फिर प्रवीर तालवृक्षसे बँधे हुए भगवान्‌को देखने लगा। उसके हृदयमें छिपा हुआ प्रेमसमुद्र प्रकट होकर उमड़ चला। वह अपने-आपको भूल गया। भगवान्‌की नित्य-नव-नवायमान सुर-मुनि-मनमोहिनीरूप माधुरीने प्रवीरपर ऐसा विलक्षण जादू किया कि प्रवीरका बाह्य-ज्ञान सर्वथा लुप्त हो गया ! वह उस अलौकिक रूप-सुधा-सागरमें डूब गया।

इसी समय भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! तुम अति शीघ्र प्रवीरका मस्तक उतार लो।' अर्जुन बोले—'प्रभो ! प्रवीर युद्ध छोड़कर आपके ध्यानमें तल्लीन है, ऐसी अवस्थामें इसे मारना धर्मविरुद्ध है।' भगवान् तुरंत बोल उठे—'अर्जुन ! मेरे भक्त प्रवीरको युद्धमें सम्मुख मार सकनेकी सामर्थ्य किसमें है ? यह मेरी इच्छा है कि मेरा भक्त मेरे ध्यानमें निमग्न रहता हुआ ही मेरे परम धाममें पहुँच जाय। मेरी आज्ञा है, तुम इसे मार डालो। तुम्हें पाप नहीं लगेगा।'

अर्जुनने एक अत्यन्त तीक्ष्ण अर्धचन्द्राकार दिव्य शर छोड़ा, जिससे प्रवीरका मस्तक कटकर उछला और भगवान्‌के चरणोंमें जा

गिरा। उसमेंसे एक परम निर्मल ज्योति निकली और वह श्रीभगवान्‌के मङ्गलमय श्रीविग्रहमें समा गयी। प्रवीरका प्राणान्त होते ही उसकी बची-खुची सेना भाग गयी। माहिष्मतीमें शोक छा गया।

प्रवीरकी मृत्युका समाचार सुनकर उसके पिता विलाप करने लगे और पुत्र-शोकमें रोती हुई, परंतु पुत्रकी वीर तथा भक्त-गतिसे गर्विता उसकी माताने कहा—'बेटा! तुम अर्जुनके बाणसे कटकर प्रभुके धाममें गये और मैं वीर क्षत्रियकुमारकी माता सिद्ध हुई। मेरा जन्म सफल हुआ।'

इसी बीचमें भगवान् वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने विलाप करती हुई जुन्हादेवीसे कहा—'आप चिन्ता न करें। यदि कहें तो प्रवीरको पुनः जीवित कर दूँ।' जुन्हादेवीने कहा—'प्रभो! आपके सम्मुख मृत्यु पाकर पुनः कौन जीवित होना चाहेगा; पर मैं चाहती हूँ कि हम दम्पतिको भी वही गति प्राप्त हो, जो आपने पुत्रको दी है?'

भगवान्‌ने 'तथास्तु' कहते हुए कहा—'अब महाराज नीलध्वज अर्जुनको आदरपूर्वक विदा करें तथा युधिष्ठिर महाराजके अश्वमेध-यज्ञमें नियत समयपर भेंटके साथ उपस्थित हों, वहाँपर पुनः मेरा दर्शन होगा।' और प्रभु अन्तर्धान हो गये।

भगवान्‌के आदेशानुसार नीलध्वजने अर्जुनको अत्यन्त सत्कारपूर्वक विदा किया और वे भगवान्‌के भजनमें संलग्न हो गये। पतिव्रता मदनमञ्जरी भी पतिके साथ सती होकर भगवान्‌के परमधाममें पहुँच गयी।

═══ ★ ═══

संसार-वाटिका

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-
मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

'हरिण, हाथी, पतंग, भौंरा और मछली—ये पाँच जीव पाँचों विषयोंमेंसे एक-एकसे मारे जाते हैं, फिर जो प्रमादी अकेले ही अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंका सेवन करता है, वह क्यों न मारा जायगा।'

अतः मनुष्योंको उचित है कि विषयोंसे मन-इन्द्रियोंका संयम करके उन्हें परमात्माकी ओर लगायें। इस विषयमें एक दृष्टान्त है—एक चक्रवर्ती राजा थे। एक बार उन्होंने यह घोषणा की कि जो कोई मनुष्य कल मेरा दर्शन कर लेगा, उसे मैं युवराजपद दे दूँगा। मैं अपने जिस बगीचेकी कोठीमें निवास करता हूँ, वह कल दिनभर सबके लिये खुला रहेगा। मेरे पास कोई भी मनुष्य आ सकता है। किसीके लिये भी कोई रुकावट नहीं रहेगी। प्रत्येक मनुष्यको बगीचेमें सैर करनेके लिये केवल दो घंटा समय दिया जायगा। कोई भी व्यक्ति दो घंटेसे अधिक नहीं रह सकता। बगीचेमें प्रवेश होनेके बाद मेरे पासतक पहुँचनेमें तो आधे मिनटका समय ही काफी है; क्योंकि वहाँकी सड़कें बड़ी ही सुगम और सुलभ हैं। अतः जो मनुष्य नियत समयके अंदर मेरा दर्शन कर लेगा, उसे तो युवराजपद दे दिया जायगा और जो बगीचेमें ही रमता रहेगा, उसे दो घंटे समाप्त होते ही बाहर निकाल दिया जायगा।

यह घोषणा राज्यमें सर्वत्र प्रचारित कर दी गयी। फिर बात ही क्या थी, सब लोग प्रातःकाल होते ही बगीचेमें धड़ाधड़ प्रवेश करने लगे। बगीचेके दरवाजेपर ही प्रबन्धकर्ताका निवासस्थान था। वह प्रबन्धकर्ता, जो भी व्यक्ति बगीचेके अंदर प्रवेश करता, उसे एक टिकट दे देता और उसकी एक नकल अपने पास रख लेता। इस प्रकार लोग टिकट ले-लेकर भीतर जाने लगे। बगीचेमें जाकर कोई तो नाना प्रकारके चमेली, केवड़ा, गुलाबके फूलोंको सूँघते हुए शीतल, मन्द, सुगन्धित हवामें सैर करने लगे। कितने ही उनसे आगे पहुँचकर मेवा और मधुर फल तोड़-तोड़कर खाने लगे। कितने ही उनसे भी आगे जाकर सरकस, बायस्कोप, सिनेमा, अजायबघर, खेल-तमाशे आदिको तथा रत्नोंकी ढेरियों और सोने-चाँदीके नाना प्रकारके सिक्कोंको एवं और भी अनेक प्रकारके पहले कभी न देखे हुए पदार्थोंको देखने लगे। कितने ही लोग उनसे भी आगे बढ़कर पुष्पोंकी शय्यापर शयन करते हुए स्त्रियोंके साथ रमण करने लगे और कितने ही मनुष्य उनसे भी आगे बढ़कर ग्रामोफोन-रेडियो आदिके गाने सुनने लगे। इस प्रकार वे लोग बगीचेके ऐश-आराम, भोगोंमें फँसकर राजाके दर्शनसे निराश हो गये और अज्ञानवश यही सोचने लगे कि हमलोगोंको राजाके दर्शन कहाँ ? उनमेंसे कोई एक, जो विरक्त पुरुष थे, जिनके मन-इन्द्रिय वशमें थे, वे उन ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनीका तिरस्कार करके महाराजके पास जा पहुँचे और उनको महाराज साहेबने युवराजपद दे दिया।

प्रबन्धकर्ताकी ओरसे उस बगीचेमें बहुत-से सिपाही घूमा करते थे। वे जिस मनुष्यका समय पूरा हो जाता था, उसका टिकट लेकर उसे बगीचेसे बाहर कर देते थे। परंतु जो भाई पुष्पोंकी सुगन्ध लेता हुआ हवाखोरी करता, वह कहता—'थोड़ी देर हमको और रहने दो।' किंतु सिपाही तैनात किये हुए थे। कोई भी आदमी एक मिनट भी

अधिक कैसे रह सकता था। सिपाही उसे धक्का देकर बलपूर्वक बाहर निकाल देते थे। जो मेवा और मधुर फल तोड़-तोड़कर खा रहे थे, वे सिपाहियोंसे कहने लगे कि 'भैया ! हमको दो मिनट और रहने दो। हमने जो मेवा और मधुर फल तोड़े हैं, उनकी गठरी तो बाँध लें ! सिपाहियोंने कहा—'यहाँसे कोई कुछ भी बाँधकर नहीं ले जा सकता है। जो कुछ तुमने खा लिया, वही तुम्हारा है।' यों कहकर उनकी गठरी-मुटरी छीन ली और उन्हें धक्का देकर बाहर निकाल दिया। जो खेल-तमाशा, सिनेमा आदि देख रहे थे, वे तो वहाँसे उठना ही नहीं चाहते थे, किंतु वहाँ कोई भी एक मिनट भी अधिक रह ही कैसे सकता था ? सिपाही उनको धक्के मारकर बलपूर्वक बाहर निकालने लगे। कितनोंने तो रुपया, मुहर और रत्नोंकी गठरी बाँध ली। सिपाहियोंने पूछा—'यह क्या है और तुमने यह गठरी क्यों बाँधी है ?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'इनमें रुपये, मुहर तथा रत्न हैं, हम इनको अपने साथ ले जायँगे।' सिपाही लोग उन्हें डंडे मारने लगे और कहने लगे—'मूर्खो ! इनका तुम केवल दर्शन ही कर सकते हो, यहाँसे कोई भी आदमी एक पाई भी अपने साथ नहीं ले जा सकता।' उन लोगोंको बाँधी हुई गठरी छोड़नेमें बड़ा दुःख होता था; पर उपाय भी क्या, बाध्य होकर छोड़ना पड़ा। जो लोग पुष्पोंकी शय्यापर सोकर स्त्रियोंके साथ रमण कर रहे थे, वे तो किसी प्रकार भी बाहर नहीं होना चाहते थे; पर बिना कानून कोई एक क्षण भी वहाँ कैसे रह सकता। सिपाहियोंने उनको भी अवधि समाप्त होते ही डंडे मारकर निकाल बाहर किया और जो ग्रामोफोन, रेडियो आदि सुन रहे थे, उनको तो कुछ पता ही न रहा कि कितना समय बीत गया है। सिपाहियोंने उनके टिकटोंका नम्बर देखकर कहा कि 'चलो, तुम्हारा समय हो गया।' सुननेवालोंने कहा—'अरे भाई ! यह गाना तो पूरा सुन लेने दो।'

सिपाहियोंने कहा—'तुम्हारा समय समाप्त हो गया है, तुम अब एक क्षण भी यहाँ नहीं रह सकते।' यों कहकर उनको भी डंडोंसे मारकर बलपूर्वक बगीचेसे बाहर ढकेल दिया।

यह एक कल्पित दृष्टान्त है। इसे दार्ष्टान्तिरूपमें इस प्रकार समझना चाहिये कि चक्रवर्ती राजा यहाँ परमेश्वर हैं और उनका बगीचा ही यह संसार है। राजाकी घोषणा ही श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र है। लोगोंका आना-जाना ही सर्ग है। बगीचेके लिये नियत किया हुआ दो घंटेका समय ही मनुष्यकी आयु है। राजाके दर्शनमें किसीके लिये रुकावट नहीं है, यही मनुष्यमात्रके लिये ईश्वर-प्राप्तिमें स्वतन्त्रताकी घोषणा है। युवराजपद ही परम निःश्रेयस्‌की प्राप्ति है। सुगम और सुलभ सड़कोंपर चलकर आधे मिनटमें मार्ग तय करना ही भक्ति आदि उच्चकोटिके सुगम साधनोंके द्वारा छः महीनेमें ईश्वर-साक्षात्कारका रास्ता तय करना है। प्रबन्धकर्ता धर्मराज है। टिकट देना ही आयु देना है। टिकटकी नकल अपने पास रखना ही आयुका हिसाब रखना है। बगीचेमें प्रवेश करना और वापस बाहर जाना ही मनुष्यका जन्मना-मरना है। बगीचेमें प्रवेश करके जो पुष्पादिका सुगन्ध लेते हुए हवा खाना है, यही यहाँ घ्राणेन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका पुष्पमाला, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदिकी सुगन्धमें अपना समय बरबाद करना है। बगीचेमें जो मेवा और मधुर फलोंका खाना है, वही यहाँ रसनेन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका भोजनादिके रसस्वादमें समय व्यय करना है। बगीचेमें खेल-तमाशे आदिको देखना ही यहाँ चक्षु-इन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका नाशवान् क्षणभङ्गुर आश्चर्यमय पदार्थोंको देखकर अपने अमूल्य समयको नष्ट करना है। बगीचेमें स्त्रियोंके साथ पुष्पोंकी शय्यापर रमण करना आदि ही यहाँ त्वचा-इन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका स्पर्शादिके द्वारा स्पर्श

करनेयोग्य नाशवान् क्षणभङ्गुर पदार्थोंका उपभोग करके अपने जीवनको खतरेमें डालना है। बगीचेमें ग्रामोफोन, रेडियो आदि सुनना ही यहाँ श्रोत्रेन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका रसकी बातोंको सुनकर अपने जीवनके अमूल्य समयको बेकार नष्ट करना है। राजाके दर्शनसे निराश होना ही यहाँ परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धाकी कमीके कारण होनेवाली साधनविषयक अकर्मण्यता है। बगीचेमें सीधे ही राजाके निकट जानेवाला जो मन-इन्द्रियोंका संयमी विरक्त पुरुष है, वही यहाँ परम साक्षात्कार-रूप सिद्धि प्राप्त करनेयोग्य उच्चकोटिका साधक है। बगीचेमें राजाका दर्शन करना ही भगवत्साक्षात्कार और युवराजपद ही परमपदकी प्राप्ति है। बगीचेमें घूमनेवाले प्रबन्धकर्ताके सिपाही इस संसारमें धर्मराजके दूत हैं। टिकटकी अवधिका शेष होना ही यहाँ मनुष्यकी आयुकी समाप्ति है। बगीचेसे लोगोंको बाहर कर देना ही यहाँ मनुष्योंको यमराजके हवाले कर देना है। बगीचेमें फलोंकी और रुपयोंकी गठरी बाँधना ही यहाँ मरनेके समय अज्ञान और स्नेहके कारण धन आदि पदार्थोंका संग्रह करना है। इच्छा न होनेपर भी उनको सिपाहियोंका डंडा और धक्के मारकर बलपूर्वक बाहर निकाल देना ही यहाँ मरनेकी इच्छा न होनेपर भी यमदूतोंका बलात् यन्त्रणा देते हुए यमके द्वारपर ले जाना है, बगीचेसे मेवा-फल, रुपये आदि कोई भी पदार्थ साथमें नहीं ले जा सकना ही इस संसारके मेवा-मिष्टान्न, धन, स्त्री-पुरुष आदि पदार्थोंको यहीं छोड़कर जाना है; क्योंकि इस संसारकी कोई भी—किंचिन्मात्र भी वस्तु किसी भी प्रकार न तो आजके पहले किसीके साथ गयी और न जा सकती है। इसलिये इन नाशवान् क्षणभङ्गुर पदार्थोंसे और विषयोंसे वैराग्यपूर्वक मन-इन्द्रियोंको हटाकर परमात्मामें लगाना चाहिये।

═══ ★ ═══

भगवान् छप्पर फाड़कर देते हैं

'आप दिनभर गीतापाठ करें और गीताके अनुसार जीवन बनानेके प्रयत्नमें लगे रहें, पर पेट-पूजाका भी तो थोड़ा ध्यान रखना चाहिये'—छोटे भाईने बड़े भाईसे कहा। बड़ा भाई निरन्तर गीतापाठमें लगा रहता था। उसने सुन लिया था कि 'सम्पूर्ण गीतापाठकी अपेक्षा अर्थ और भावसहित एक अध्यायका प्रतिदिन पाठ कर लेना उत्तम है, किंतु गीताके साँचेमें अपना जीवन ढाल लेना तो सबसे उत्तम है। गीतामें बहुत-से ऐसे भी श्लोक हैं, जिनमेंसे किसी एक श्लोकको अपने जीवनमें उतार लेनेसे कल्याण हो जाता है। उन चारों भाइयोंमें यह बड़ा भाई गीताप्रेमी था। वह १२वें अध्यायके १७वें श्लोकको अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न कर रहा था। छोटे भाईकी उपर्युक्त बात सुनकर भी वह चुप रहा।

'धनोपार्जनके लिये हमारी तरह आपको भी श्रम करना पड़ेगा।'—दूसरे छोटे भाईने कहा।

'हम कबतक कमाकर खिलायेंगे?'—तीसरेने भी उसीका समर्थन किया।

'सबसे अच्छा यही है कि आप अलग हो जाइये'—पहले छोटे भाईने आवेशमें कह दिया।

'सचमुच आपके साथ हमलोगोंका निर्वाह नहीं हो सकेगा।' दूसरे छोटे भाईने और कर्कश स्वरमें कहा।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥

बड़े भाईने गम्भीरतासे उत्तर दिया, भैया ! यह श्लोक गीताका है। अर्जुनसे भगवान् कहते हैं कि 'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ समस्त कर्मोंको त्याग चुका है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।' गीताभ्यासीने श्लोक सुनाया, इसी बीचमें—

'उपदेश अपने पास रखिये। आज ही आप अलग हो जाइये'—तीसरे छोटे भाईने जोरसे कहा।

तुम लोग मुझे अलग करते हो, इससे न तो मुझे कोई हर्ष है और न कोई शोक ही है—गीताप्रेमी बड़े भाईने शान्तिसे उत्तर दिया। 'न द्वेष है और न अलग होनेकी आकाङ्क्षा ही है। हर्ष, शोक, इच्छा तथा द्वेषसे रहित पुरुष ही प्रभुका प्रिय पात्र है। तुम लोग जो उचित समझो करो।'

'बिना अलग किये इनकी अक्ल ठिकाने नहीं आयेगी। लच्छेदार उपदेश देकर आनन्दपूर्वक दिन बिताना चाहते हैं।' छोटे पहले भाईने निश्चय सुना दिया।

'हमलोगोंने बहुत दिनोंतक इनका पालन-पोषण किया। अब तंग आ गये'—छोटे दूसरे भाईने भी दोनों बन्धुओंका अनुमोदन किया।

'मैं सम्मिलित रहती तो तीनोंका भोजन बनाना पड़ता'—भीतरसे गीताभ्यासीकी कर्कशा पत्नीने जोरसे कहा। 'तीनोंको अलग हो जाने दो, चिन्ताकी कोई बात नहीं।'

'अनुकूल परिस्थिति पाकर जिसे हर्ष नहीं होता, वही प्रभुका प्रिय है।' गीताभ्यासीने अपनी पत्नीको प्रेमसे समझाया—'तुम्हें इस तरह नहीं बोलना चाहिये। फिर यह तो अनुकूल भी नहीं है; क्योंकि भगवान्‌ने तुम्हें इतने प्राणियोंकी सेवाका अवसर दिया था। यह तो तुम्हारे सौभाग्यकी बात थी, तुम्हें इसके लिये प्रभुका कृतज्ञ होना चाहिये था।'

'इतने गहने, कपड़े, बर्तन और रुपये आपके रहे और छोटा घर आपके रहनेके लिये।' तीनों भाइयोंने बड़े भाईके सामने थोड़ी-सी चीजें रख दीं। सभी भाई जोशमें थे। भाभीकी कटु वाणीने क्रोधाग्निमें घृतका काम कर दिया था।

'भगवान्‌की जैसी इच्छा!'—गीताभ्यासीने शान्तिके साथ उत्तर दिया। उसकी मुखमुद्रा पूर्वकी भाँति ही सहज प्रसन्न और शान्त थी। चिन्ताकी कोई रेखा उसकी आकृतिपर नहीं दीख रही थी।

× × × ×

'अब भी आप चुपचाप बैठे हैं, कैसे काम चलेगा?' गीताभ्यासीकी पत्नीने कहा। 'न काङ्क्षति' उत्तर मिला। 'मुझे कोई धनकी आकाङ्क्षा नहीं है। आकाङ्क्षारहित व्यक्ति ही प्रभुको प्रिय है।'

'रुपये खर्च हो जानेपर कैसे काम चलेगा?'—पुनः प्रश्न हुआ।

'न शोचति' नपा-तुला उत्तर मिला। 'शोकरहित पुरुष प्रभुका प्रिय पात्र है। अतः जीविकाके लिये मुझे शोक नहीं है।' गीताभ्यासीकी पत्नी चुप हो गयी।

× × × ×

'अब तो मेरे पास रुपये नहीं रहे, क्या करूँ?'—चिन्तित पत्नीने एक दिन पतिसे पूछा।

'न काङ्क्षति' वही पुराना उत्तर मिला।

'आभूषण तो तनपर एक भी नहीं रहा।'—दुखी पत्नीने कुछ दिनों बाद फिर कहा। 'सब-के-सब पेटका गड्ढा भरनेमें समाप्त हो गये, अब तो आप कुछ करें।'

'न शोचति' पुनः वही चार अक्षरोंका उत्तर मिला। स्त्री निराश हो, मन मसोसकर रह गयी।

× × × ×

'अब मेरे पास कुछ नहीं रह गया!' रोती हुई गीताभ्यासीकी पत्नीने कहना शुरू किया। 'अपना मकान तो बिक ही गया। घर किरायेका है। बर्तन दूसरोंसे उधार लेकर रसोई बनायी है। पहननेके लिये दो-दो कपड़ोंके अतिरिक्त अब तो हमलोगोंके पास रुपये-पैसे, गहने-कपड़े, बर्तन-बासन या अन्य कोई भी वस्तु नहीं रह गयी; जिससे जीवन-निर्वाह हो सके। अब तो कुछ काम कीजिये।' पत्नीने आशान्वित होकर आग्रह किया।

'न काङ्क्षति' वही पुराना जवाब मिला। 'मुझे कोई आकाङ्क्षा नहीं है।'

'आखिर काम कैसे चलेगा?'—आँसू पोंछते हुए अधीर नारीने कह दिया।

'न शोचति'—'मैं शोक नहीं करता, ऐसा ही पुरुष प्रभुको प्रिय है' कहकर गीताभ्यासी मौन हो गया।

'बड़ा विचित्र मस्तिष्क है आपका!' पत्नीने चिढ़कर कहा—'मुझे तो आशा थी कि सब कुछ समाप्त हो जानेपर तो आप कुछ करेंगे ही, पर 'न काङ्क्षति', 'न शोचति' इसीसे भगवान् संतुष्ट रहते हैं'—यह सब सुनते-सुनते तो मैं हैरान हो गयी।

'मैं सच्ची बात कहता हूँ ब्राह्मणी!' गीताभ्यासी कहने लगा। 'आज ही प्रातःकालकी बात है। शौचसे निवृत्त होकर जब मैं नदी-तटपर गया तो देखा कि नदीका जल ऊपर सूख गया है, भीतर-ही-भीतर बह रहा है; जलके लिये मैंने घाटके किनारे ही गड्ढा खोदा तो वहाँ मणि-माणिक्य तथा स्वर्ण-मुद्राओंसे पूरित एक टोकना निकल आया। उस समय भगवान्का वाक्य मुझे तुरंत स्मरण हो आया—'अनुकूलकी प्राप्तिमें जो हर्षित नहीं होता, वह मेरा प्रिय है।' इसलिये उस रत्नराशिको देखकर भी मैं जरा भी हर्षित नहीं हुआ। भगवान्ने

'न द्वेष्टि' कहा है, इसीलिये मैंने उससे द्वेष नहीं किया, उसे निकालकर कहीं फेंका भी नहीं। उसकी मुझे 'आकाङ्क्षा' भी नहीं थी। मैं उसे ज्यों-का-त्यों ढककर वापस आ गया। उस अनन्त धन-राशिको परित्याग करनेका रञ्चमात्र भी मुझे शोक नहीं है। इस प्रकार भगवान्‌की दयासे मुझे न हर्ष हुआ, न द्वेष और न पश्चात्ताप हुआ तथा न आकाङ्क्षा ही। उसे मैं तो लाया नहीं; पर कोई लाकर मुझे दे जाय तो मैं रख लूँ—ऐसी भी मेरी भावना नहीं है। क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—'जो शुभ-अशुभका परित्यागी होता है, वह मुझे प्रिय होता है।'

स्त्रीने खीझकर कहा—'आपको न सही, मुझको तो आकाङ्क्षा है।' पण्डितजीने कहा—'तुम्हें भी आकाङ्क्षा नहीं करनी चाहिये।'

× × × ×

'अरे! यह तो काला नाग है'—चौंकते हुए एक चोरने कहा। 'गीताभ्यासी परम धूर्त है।'—दूसरे चोरने धीरेसे जवाब दिया। 'उसने समझ लिया था कि हमलोग उसके घरमें घुस गये हैं, इसलिये ज्ञान बघारने लगा और हमें साँपसे कटवानेकी नीयतसे ही टोकनेमें हीरे-पन्ने बताकर उसने हमें धोखा दिया।'

'उसकी स्त्री भी कम चंट नहीं है।' तीसरा चोर तुरंत बोल उठा। 'दोनोंने मिलकर हमलोगोंको छकाया है। सचमुच मार डालनेकी युक्ति ही उन दोनोंने सोची थी।'

'यही युक्ति उनपर लगायी जाय।' चौथेने सलाह दी। नागसमेत टोकना उनकी झोपड़ीमें डाल दिया जाय; बस, 'न शोचति', 'न काङ्क्षति' का पूरा अभ्यास हो जायगा।'

जिस समय रातको ब्राह्मण अपनी पत्नीसे टोकनेकी बात कह रहा था, उसी समय चोर घरमें घुसे थे और उन्होंने उनकी बातें सुनकर धनके लोभसे नदीतटपर आकर टोकनेको निकाला था और उसका

मुँह खोलते ही उन्हें भयङ्कर काला नाग फुफकार मारता दिखायी दिया, तब उनमें ऊपर लिखी बातचीत हुई !

चौथे चोरकी बातका सबने एक स्वरसे समर्थन किया। टोकनेका मुँह बंद करके चारों चोरोंने उसे कंधेपर उठाया। हाँफते हुए सब-के-सब गीताभ्यासीके मकानपर आये। घरके ऊपर छप्परमें एक छिद्र बनाकर तीन तो सरक गये। चौथा टोकनेको मकानके ऊपर छिद्रके मुँहपर उलटकर भाग खड़ा हुआ।

'अरे, यह देखिये सोनेकी अशर्फियोंका ढेर !'—गीताभ्यासी पण्डितकी पत्नी मणि-माणिक्य और अशर्फियोंकी ध्वनिसे जाग पड़ी थी। नाग मणियोंके नीचे दबकर परलोक सिधार चुका था। ब्राह्मणी हर्षातिरेकसे उत्फुल्ल हो रही थी। उसने कहा—'भगवान्ने छप्पर फाड़कर रत्न-भण्डार भेज दिया।'

'हर्षोत्फुल्ल नहीं होना चाहिये।' पण्डितजीने सहज भावसे तुरंत कहा। 'प्रिय वस्तु पाकर जो हर्षित नहीं होता, भगवान् उसीको प्यार करते हैं।'

× × × ×

'हमलोग क्षमा चाहते हैं।'—तीनों भाइयोंने एक दिन आकर लज्जित स्वरमें कहा।

'मैं किसीसे द्वेष नहीं करता, तुमलोग तो मेरे भाई हो, मुझे लज्जित न करो'—गीताभ्यासीने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया।

'भैया !' कण्ठस्वर भर आया था तीनों बन्धुओंका। उन्हें ऐसे प्रेमभरे शब्दोंकी बड़े भाईसे आशा नहीं थी। एकने कहा—'आपसे अलग होनेपर हमलोगोंको सदा क्षति ही उठानी पड़ी है। लक्ष्मीदेवीने घर ही त्याग दिया। हम सब ऋणी हो गये हैं, दाने-दानेके लिये तरसकर समाजमें अपमानित तथा लाञ्छित जीवन बिता रहे हैं।'

'हमारी जिंदगी भार हो गयी भैया !'—दूसरे छोटे भाईने कहा।

'लज्जासे हमलोग आपके पास नहीं आ रहे थे, पर विपत्तियोंने हमें भेजा है।'—छोटे तीसरे भाईने कह दिया।

'सहोदर भाई आप हैं।'—पुनः पहला छोटा बोला।

'आप पुण्यात्मा हैं। प्रतिदिन दीनोंको इतना धन खुले हाथों बाँट रहे हैं। हम तो आपके छोटे भाई हैं, हमें क्षमा करें।'—दूसरेने गिड़गिड़ाते हुए कहा—

'ये रत्न-अशर्फियाँ आपलोग ले जायँ !' गीताभ्यासी पण्डितकी पत्नी तीनों देवरोंके करुणायुक्त दीन वचन सुनकर द्रवित हो गयी थीं। कुछ रत्न-अशर्फियाँ लाकर देते हुए बोलीं—'हमें तो भगवान्‌ने छप्पर फाड़कर दिया है, और भी दे जायँगे।'

'भगवान् हमें फिर दे जायँगे' ऐसी आकाङ्क्षा तुम्हें नहीं करनी चाहिये।'—अपनी पत्नीको सम्बोधित करते हुए पण्डितजीने कहा। 'आकाङ्क्षारहित पुरुष ही भगवान्‌का प्रिय पात्र बनता है।'

'अपराधके लिये क्षमा चाहती हूँ।'—पत्नीने भूल स्वीकार की।

'भैया आप अपनेमें हमें मिला लें।'—एक छोटे भाईने प्रार्थना की।

'हाँ भैया ! बड़ी कृपा होगी आपकी।'—दूसरे छोटे भाईने भी आग्रह किया।

'आपके पुण्यसे हम ऋणमुक्त हो जायँगे, हमलोगोंका सारा दुःख मिट जायगा, भैया !'—तीसरेने भी अनुरोध किया।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥

गीताभ्यासी पण्डितने वही प्राचीन श्लोक, जो उनका प्राण था, दुहराया। तुमलोग मुझे पुनः सम्मिलित करना चाहते हो, इसमें मुझे किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है और न हर्ष ही है। यदि पुनः

तुमलोग मुझे अलग कर दोगे, तो भी मुझे शोक नहीं होगा और न मैं तुमलोगोंसे द्वेष ही रखूँगा; क्योंकि हर्ष, द्वेष, शोक, आकाङ्क्षा तथा शुभाशुभको परित्याग करनेवाला पुरुष ही भगवान्‌का सच्चा प्रेमी समझा जाता है।

× × × ×

'आपके पदार्पण करते ही आपकी कृपासे हमारा घर और घरका तमाम सामान, जो गिरवी रखा था, छूट गया। हम ऋणमुक्त हो गये'—एक दिन चारों भाइयोंके एकत्र होनेपर सबसे छोटे भाईने कहा। 'हमारा जीवन आनन्दसे बीत रहा है।'

'लक्ष्मीदेवीकी हमपर बड़ी कृपा हो गयी है।' दूसरे छोटे भाईने कहा।

'यो न हृष्यति न द्वेष्टि······' श्लोक गाती हुई गीताभ्यासी पण्डितकी पत्नीने आकर कहा— 'चलिये भोजन तैयार है।'

भोजन करनेके लिये उद्यत होते हुए छोटे तीसरे भाईने कहा— 'अब तो भैया और भाभीकी तरह हमलोग भी प्रतिदिन नियमपूर्वक गीतापाठ किया करेंगे।'

'गीताके अनुसार जीवन बनानेका पूर्ण प्रयत्न करेंगे'—सबसे छोटे भाईने कह दिया।

'फिर तो हमारा घर भगवान्‌का मन्दिर बन जायगा'—दूसरे छोटे भाईने कहा।

'प्रभु करें ऐसा ही हो'—मुसकराते हुए गीताभ्यासी सबसे बड़े भाई बोल गये।

(निवृत्तिपरक स्वभावका अनुसरण करके यह गाथा लिखी गयी है। इस श्लोकका अर्थ प्रवृत्तिपरक भी होता है और इस तरह प्रत्येक कर्मशील भक्तके लिये भी यह श्लोक आदर्श है।)

═ ★ ═

परमानन्दकी खेती

'भैया ! इतनी दूर कैसे आये ?'—स्वागत करनेके बाद पंजाब रहनेवाले मित्रने पूछा। राजपूतानेसे पंजाब आनेका कोई कारण-विशेष अवश्य होगा, उसने समझ लिया था।

'मेरे यहाँ अकाल पड़ा हुआ है। लोग दाने-दानेके लिये तरस रहे हैं और कितने ही क्षुधासे तड़प-तड़पकर प्राण छोड़ रहे हैं। व्याकुल होकर मैं परिवारसहित आपके पास आ गया।'—राजपूतानेके वैश्यने अपने मित्रसे सच्ची बात बता दी। अपने मित्रके पास अन्नका ढेर देखकर वह मन-ही-मन प्रसन्न भी हो रहा था।

'आप यहाँ आ गये, बड़ा अच्छा किया। आपका ही घर है, आनन्दपूर्वक रहिये'—वैश्यके मित्रने बड़े प्रेमसे उत्तरमें कहा।

'आपके यहाँ तो अन्नके ढेर लगे हैं, हमारे देशमें तो अन्न आजकल किसी भाग्यशालीको ही मिलता है; वहाँ तो एक-एक दानेके लिये चील्ह-कौओंकी तरह छीना-झपटी हो रही है। आपके यहाँ सहस्रों मन गल्ला एकत्र देखकर मेरे जीमें जी आ गया।'—वैश्यने स्थिति स्पष्ट की।

'यहाँ तो भगवत्कृपासे अन्नका अभाव नहीं है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात भी नहीं है; यहाँ तो कोई भी आये, उसके लिये अन्नकी कमी नहीं है। आप तो हमारे मित्र हैं, यहाँ तो सब कुछ आपका ही है। यहाँ आकर आपने बड़ा अच्छा किया।'—मित्र बोला। वह चतुर और अनुभवी किसान था।

'आपकी सभी वस्तुएँ हमारी हैं, इसमें तो संदेह नहीं है, पर मैं जानना चाहता हूँ कि इतनी अन्नराशि आपके पास आयी कहाँसे ?'—वैश्यने चकित होकर पूछा।

'हमारे यहाँ बराबर खेती होती है। उसीका यह प्रताप है।' किसान मित्रने वैश्य बन्धुका समाधान करना चाहा। 'आप भी खेती करने लगें तो आपके पास भी अन्नके ढेर लग जायँगे।'

'बड़ी सुन्दर बात है, कृषिके कार्यमें मैं भी जुट जाऊँगा। पर इसका अनुभव मुझे नहीं है। मेरे पास एक सहस्र रुपये हैं। इतनेसे खेती आरम्भ हो सकती है क्या ?'—वैश्यने पूछा।

'एक हजारकी पूँजी कम नहीं है। इतने रुपयेसे खेतीका काम आप बड़ी सुन्दरतासे आरम्भ कर सकते हैं। मेरा पूरा सहयोग रहेगा ही।'—किसानने सहानुभूतिपूर्ण शब्दोंमें अपने वैश्य मित्रसे कहा।

'मुझे तो इसका कोई ज्ञान नहीं है। आप जैसा उचित समझें करें।'—अपनी समस्त पूँजी किसानके हाथमें समर्पित करते हुए वैश्यने जवाब दिया।

× × × ×

'देखिये, ये सब गेहूँ तो मिट्टीमें मिल गये। गेहूँका एक-एक दाना फूटकर नष्ट हो गया'—अत्यन्त निराश होकर वैश्यने कहा। उसने अपने पंजाबी किसान मित्रके किसी काममें बाधा नहीं दी थी। किसानने मित्रकी पूँजीसे बीजादिका प्रबन्ध करवाकर हल चलवा दिया था। बीज बो दिये थे। पर अनुभवहीन वैश्य यह सब देखकर चिन्तित हो रहा था। दो-तीन दिन भी नहीं बीतने पाये कि वह खेतमें जाकर खोदकर गेहूँके दाने देखने लगा। उसे बहुतसे बीज अङ्कुरित दीखे, इसपर उसने समझा कि मेरे सारे रुपये मिट्टीमें मिल गये। अत्यन्त दुखी होकर उसने अपने मित्रसे उपर्युक्त बात कही।

'आपके खेतमें अङ्कुर निकलने शुरू हो गये हैं। आप कोई चिन्ता न करें! बीजके लक्षण अच्छे हैं। आपको पता नहीं है।'—किसान मित्रने वैश्यको आश्वासन दिया।

'मुझे तो धन और श्रमका व्यय करनेपर भी कोई लाभ होता नहीं दीखता। मैं तो बहुत चिन्तित हो गया हूँ।'—वैश्यने मनकी व्यथा स्पष्टतः कह दी।

'प्रारम्भमें ऐसा ही होता है। आप निश्चिन्त रहें। आपकी खेती बड़ी सुन्दर हो रही है।' किसान मित्रने बड़े प्रेमसे उत्तर दिया।

वैश्य चुप था। इसके अतिरिक्त उसका वश ही क्या था।

× × × ×

'मेरे खेतमें तो सर्वत्र घास-ही-घास दीख रही है। मुझे तो बड़ी हानि हुई । मेरा सारा रुपया व्यर्थ गया।'—वैश्यने थोड़े ही दिनोंमें फिर किसानसे कहा। बित्ते बराबर गेहूँके पौधोंको उसने घास समझ लिया था।

घबराया हुआ किसान स्वयं खेतपर गया, पर वहाँ खेती देखकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ।

'अरे! आपका खेत तो आस-पासके सभी खेतोंसे बढ़कर है।' किसानने हतोत्साह मित्रका भ्रम निवारण किया। 'आप समझ लें कि अब गेहूँका विशाल ढेर आपके पास एकत्र होनेवाला ही है। पर इस बातका ध्यान अवश्य रखें कि पौधे सूखने न पायें। इन सुकुमार पौधोंका जीवन पानी है। इसकी व्यवस्था आप शीघ्र कर लें। इनकी सिंचाईके लिये आप शीघ्र ही एक कुआँ खुदवा लें। साथ ही खेतको चारों ओर काँटोंकी बाड़ लगाकर रूँध दें, नहीं तो पशु आकर इसे चर जायँगे। खेतकी रखवाली आपको सावधानीसे करनी होगी।'

'आपकी प्रत्येक आज्ञाका मैं शब्दशः पालन करूँगा।' वैश्यने कहा और वैसा ही किया। कुआँ खुदवाकर खूब सिंचाई की। भगवत्कृपासे बीच-बीचमें बादल-दलने भी जल-वर्षण किया। पौधे बढ़ने लगे।

× × × ×

'पौधोंके बीच-बीचमें जो घासें उग आयी हैं, उन एक-एक घासोंका निरान कर डालिये। वे गेहूँकी वृद्धिके बाधक हैं'—एक दिन खेतपर आकर किसानने वैश्यको प्रेमभरे शब्दोंमें आदेश दिया।

'एक घास भी खेतमें नहीं रहने पायेगी।'—वैश्यने तुरंत उत्साहपूर्ण शब्दोंमें उत्तर दिया।

× × × ×

'गेहूँके दाने तो हो गये, पर ये तो सब-के-सब कच्चे ही हुए हैं।'—माथेका पसीना पोंछते हुए वैश्यने किसान बन्धुसे कहा। वह खेतसे दौड़ता आया था और जोरोंसे हाँफ रहा था। उसने अपने किसान मित्रके आदेशानुसार अपने खेतमें घासका कोई चिह्न भी अवशिष्ट नहीं रहने दिया था। उसका परिश्रम अतुलनीय था। गेहूँमें फल भी लगे थे, पर इतने दिनोंके बाद उसने देखा तो सब-के-सब फल कच्चे ही थे। खेतीके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण वह गरीब घबरा गया था। उसने समझा रुपयेके साथ-साथ मेरी एँड़ी-चोटीका पसीना भी व्यर्थ सिद्ध हो रहा है। उसने दो-तीन फलियाँ भी किसानके सामने रख दीं, जिन्हें वह साथ ही लेता आया था।

'आपके गेहूँके दाने तो बड़े पुष्ट हैं। ये अब जल्दी ही पक जायँगे। अब इसमें विलम्ब नहीं होगा। आप घबरायें नहीं। किसी प्रकारका विचार भी न करें। आपके घरमें गेहूँ और भूसेके पहाड़ लग जायँगे।' प्रसन्नताभरे शब्दोंमें किसानने वैश्यसे कहा। पर ऐसे समय पक्षी आ-आकर काकली—मीठी-मीठी बोली सुनाते हैं और सब दाने खा जाया करते हैं; अतः खेतीकी खूब रक्षा करनी होगी। पक्षियोंसे रक्षा किये बिना, पक्षी सारे खेतका नाश कर डालेंगे।'

'मैं आपका कृतज्ञ हूँ । मेरे आनन्दकी सीमा नहीं है। मेरे पास गेहूँका विशाल ढेर लग गया है'—वैश्यने आनन्दभरे शब्दोंमें किसान मित्रके प्रति आभार प्रदर्शित किया।

'यह सब भगवान्‌की कृपा और आपके श्रमका फल है। आप पक्षियोंके कलरवपर ध्यान न देकर उन्हें उड़ानेमें ही लगे रहते थे। आपने बड़ी तत्परतासे कृषि की थी।'—किसानने वैश्यबन्धुको ही यश दिया।

'वैश्य नतमस्तक हो गया। उसकी आकृतिपर आनन्द हँस रहा था।

× × × ×

यह कहानी एक दृष्टान्तरूपसे कही गयी है। इसे परमार्थ-विषयमें इस प्रकार घटाना चाहिये। सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले जिज्ञासुको यहाँ अकालपीड़ित वैश्य समझना चाहिये। साधककी सांसारिक कष्टोंकी ज्वालासे उत्पन्न सच्चे सुखकी अभिलाषाको अकालपीड़ित वैश्यकी भूखकी ज्वालाके कारण अन्नकी आवश्यकता समझनी चाहिये। महात्माको पंजाबमें रहनेवाला वैश्यका किसान मित्र समझना चाहिये। वैश्यका जो राजपूतानासे अपने मित्रके पास पंजाब जाना है, यही साधकका अपने घरसे महात्माके आश्रममें महात्माके पास जाना है। मित्रके पास जाकर वैश्यका जो अपने कष्टकी बात कहना है, वही जिज्ञासु साधकका महात्माको अपना दुःख निवेदन करना है। वैश्य भाईका जो अपनी सम्पूर्ण पूँजी मित्रको सौंप देना है, यही साधकका अपने मानव-जीवनका अवशेष समय महात्माके चरणोंमें समर्पित करना है। मित्रके कहे अनुसार जो धनका खर्च करना है, यही महात्माके आज्ञानुसार समयका सदुपयोग करना है। किसान मित्रका जो जमीन और बीजका प्रबन्ध करवा देना है, इसे महात्माका समयको सदुपयोगमें लानेकी शिक्षा देना समझना चाहिये। खेतीके लिये जो अपने सुखका त्याग करना है, इसको परम आनन्दकी प्राप्तिके लिये वर्तमान सांसारिक सुखका त्याग करना समझना चाहिये।

बीजका जो खेतमें बो देना है, इसको महात्माके द्वारा साधनके बीज-मन्त्रका हृदयमें धारण करना समझना चाहिये। खेती करनेसे खेतमें बीजोंका अङ्कुर फूटनेपर बेसमझीके कारण दुःख और निराशाका अनुभव होनेको साधनकालमें होनेवाली निराशा और तज्जनित क्लेश समझना चाहिये। वैश्यका भ्रमसे गेहूँके छोटे पौधोंको जो घास समझना है, यही साधनकालमें साधनकी उन्नति होनेपर भी साधनमें परिश्रम अधिक होनेके कारण उसे भ्रमसे साधन न समझकर व्यर्थ समझना है। मन और इन्द्रियोंके संयमको बाड़ समझना चाहिये। अध्यात्म-विषयको सांसारिक स्वार्थी मनुष्योंके सम्पर्कमें खर्च न करना ही पशुओंसे खेतको बचाना है। भगवान्‌के गुण-प्रभावसहित रूपकी स्मृति और सत्सङ्ग-स्वाध्यायको, कुआँ खोदकर खेतको सींचते रहना समझना चाहिये। अपने-आप सत्सङ्ग प्राप्त होने और ध्यानका अभ्यास चलनेको ईश्वर-कृपासे समयपर स्वतः वर्षा हो जाना समझना चाहिये। दुर्गुणों और दुराचारोंको अपने हृदयसे हटाते रहना यहाँ गेहूँके अतिरिक्त अन्य घास-फूसका निरान करना है। परमात्माके ध्यानकी स्थिरताको यहाँ गेहूँका फलना तथा स्वार्थी मनुष्योंके द्वारा की जानेवाली साधककी स्तुति-कीर्तिको यहाँ गेहूँको खानेके लिये आनेवाले पक्षियोंकी काकली समझना चाहिये। साधन परिपक्व होनेके लिये स्तुति-कीर्तिकी तथा स्तुति-कीर्ति करनेवालोंकी अवहेलना करनेको यहाँ खेतीकी रक्षाके लिये पक्षियोंको हटा देना समझना चाहिये एवं सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेको गेहूँके पक जानेपर उसका ढेर लग जाना समझना चाहिये।

═══ ★ ═══

समता अमृत और विषमता विष है

राजपूतानेके किसी गाँवमें एक अत्यन्त गरीब वैश्य रहता था। दैवयोगसे वहाँ एक बार भयानक अकाल पड़ा। अन्नके अभावमें लोग तड़प-तड़पकर मरने लगे। गरीब वैश्यपर भी विपत्ति टूट पड़ी। कुछ दिन तो उसने जैसे-तैसे काम चलाया। आखिर परिवारके भरण-पोषणका कोई उपाय न देख, घरवालोंकी कुछ दिनोंके लिये किसी तरह व्यवस्था करके वह निकल पड़ा। उसका एक बचपनका धर्म-भाई था। वह आसाममें व्यापार करता था। खूब सम्पन्न था। उसका बड़ा व्यापार चलता था। गरीब वैश्यको उसकी याद आ गयी और *'बिपति काल कर सतगुन नेहा'*—मित्रका यह लक्षण सोचकर वह किसी तरह आसाम पहुँचा। जिस स्थानमें मित्रका कारबार था, वहाँ जाकर उसने मित्रसे भेंट की। उसे पूरा भरोसा था कि मित्रके यहाँ सहज ही आदर होगा और दुःखके दिन अच्छी तरह कट जायँगे। मित्रने उसका स्वागत किया, पर उसके चेहरेपर प्रफुल्लताकी जगह कुछ झुँझलाहटकी-सी, कुछ बोझकी-सी रेखाएँ पड़ रही थीं। गरीब वैश्य तो दुःखी था। उसने संक्षेपमें बड़े ही करुण शब्दोंमें अपना सारा किस्सा सुनाकर आश्रयकी भीख माँगी। कहा—'भाई साहेब ! घरमें आपकी भाभी और बच्चे भूखों मर रहे होंगे, उनके लिये आज ही कुछ खर्च भेजना आवश्यक है। साथ ही मेरे लिये भी ऐसे कामका प्रबन्ध होना चाहिये जिससे मेरे ये दुःखके दिन निकल जायँ और बच्चोंको प्रतिमास कुछ भेजा जा सके।'

धनी मित्रने लम्बी साँस खींचकर कहा—'भाई साहेब ! बात तो

ठीक है। मुझे इस समय आपकी कुछ सेवा करनी भी चाहिये; परंतु मेरे यहाँ न तो इतनी आमदनी है कि मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ और न आजकल कोई काम ही है, जो आपको दे सकूँ। मूल पूँजीके ब्याजसे, मकानोंके किरायेसे और व्यापारकी आमदनीसे कुल मिलाकर चालीस-पचास हजार रुपये आते होंगे। आप जानते हैं, आजकल महँगी है, फिर अपनी इज्जतके अनुसार खर्च भी करना ही पड़ता है। परिवार है, मुनीम-गुमास्ते हैं। मुश्किलसे काम चलता है। फिर बताइये, आपका और आपके परिवारका भरण-पोषण करनेकी मुझमें कहाँ शक्ति है ? मुझे खेद है, पर बाध्य होकर कहना ही पड़ता है कि मुझसे इस समय कुछ भी नहीं बन पड़ेगा। आप कोई दूसरा रास्ता सोचें।'

गरीब वैश्यने उदास होकर कहा—'भाई साहेब ! मैं तो यहाँ किसीको जानता भी नहीं, केवल आपके ही भरोसे आया हूँ। फिर मेरा खर्च ही कौन-सा भारी है। पचास रुपये इस समय राजपूताने भेज दिये जायँ और फिर पचास-साठ रुपये मासिकको मजदूरीका काम मुझे मिल जाय तो काम चल जायगा। कुछ मेरे खर्चमें लग जायगा; बचेगा सो बाल-बच्चोंके लिये भेज दूँगा। जहाँ पचासों हजारकी आमदनी है, वहाँ इतना-सा खर्च आपको भारी नहीं मालूम होना चाहिये। फिर मैं तो काम करके मजदूरीके पैसे लेना चाहता हूँ।' यों कहते-कहते उसकी आँखोंमें आँसू छलक आये। मित्रके निराशाजनक वचनोंसे उसे बड़ा संताप हो रहा था। धनी मित्रने उसके चेहरेकी ओर देखा, पर उसका हृदय नहीं पसीजा। उसने फिर कपट-विनयके साथ वही कहा—'भाई साहेब ! आपका कहना तो यथार्थ है, पर मैं लाचार हूँ। आपको कोई दूसरा उपाय ही सोचना पड़ेगा। हाँ, दो-चार दिन जबतक आपके कामकी कोई

व्यवस्था न हो, आप यहाँ ठहर जायँ। घरमें ही खायें-पियें। अभी शौच-स्नान करें। भोजन तैयार हो गया होगा।' इतना कहकर धनी मित्र अपने काममें लग गया। गरीब वैश्य बेचारा मन-ही-मन जानें क्या-क्या विचार करता हुआ शौच-स्नानमें लगा।

धनी मित्रका तो रूखा और कंजूस स्वभाव था ही, उसकी पत्नी उससे भी बढ़कर थी। उसे कोई दूसरा सुहाता ही नहीं था। पति तो सभ्यतावश कहीं-कहीं कुछ सह भी लेता था,परंतु पत्नी तो पतिको भी फटकार देती थी। घरपर आये हुए बचपनके परिचित मित्रको सभ्यतावश भोजन कराना ही होगा। उसने अंदर जाकर पत्नीसे कहा—'राजपूतानेसे मेरे एक पुराने धर्म-भाई आये हैं। उन्हें भोजन कराना है। जहाँतक हो सके, उनके लिये अच्छी चीजें बनाकर आदरपूर्वक खिलाना चाहिये। मित्र हैं। फिर अतिथि हैं।' परम्परासे अतिथिसत्कारकी बात सुनी हुई थी; पत्नी झुँझला न उठे, इसलिये उसने यह दलील भी सामने रख दी; किंतु उसपर इसका क्या प्रभाव पड़ता। उसने तड़ककर कहा—'भाड़में जायँ आपके ये मित्र और अतिथि; चूल्हा फूँकते-फूँकते मेरी तो आँखें फूटने लगीं। आज मित्र, कल अतिथि, परसों व्यापारी—रोज एक-न-एक आफत लगी ही रहती है। मैं तो तंग आ गयी इस गृहस्थीसे। मुझसे यह सब नहीं होगा, अपना दूसरा प्रबन्ध कीजिये।' पतिने सकुचाकर चुपकेसे कहा—'अरी ! जरा धीरे तो बोलो, वे बाहर ही खड़े हैं, सुन लेंगे तो उन्हें बड़ा दुःख होगा।'—उसने झल्लाकर कहा—'तो और भी अच्छा होगा, जल्दी बला टलेगी।' पतिने उसकी कुछ बड़ाई करके किसी तरह मनाकर कहा—'देखो ! मैंने पहले ही उनसे कह दिया है कि मेरे पास काम नहीं है, आप दूसरा उपाय सोचिये; दो-चार दिनोंमें वे चले जायँगे। इतने दिन किसी तरह अपनी इज्जतके अनुसार उनको

भोजन तो कराना ही चाहिये।' पत्नीने बात मान ली और भोजन बनाया, परंतु मनमें कष्ट तो बना ही रहा। अस्तु।

भोजन तैयार होनेपर गरीब अतिथिको साथ लेकर धनी मित्र अंदर आया तो पत्नीने कहा—'पहले अपने मित्रको भोजन करा दीजिये, क्योंकि अतिथिको पहले भोजन कराना धर्म है; पीछे आप कर लीजिये।' पतिने यह बात मान ली और अतिथिको अच्छी तरह भोजन कराया। भोजनमें चीनीमें डाली हुई बढ़िया खीर, पूरी, दही और कई तरहकी तरकारियाँ थीं, परंतु भोजन करानेवालोंके चेहरेपर कोई उल्लास या मिठास नहीं था। वहाँ प्रत्यक्ष रूखापन तथा विषाद था। मालूम होता था, वे किसी आफतमें आ पड़े हैं और उन्हें बिना मन यह सब करना पड़ रहा है। गरीब अतिथिने चुपचाप भोजन तो कर लिया; परंतु उनकी मुखमुद्रा देखकर उसे सुख नहीं मिला। सुख तो प्रेममें ही समाया होता है। भोजन करनेके बाद लघुशङ्काके लिये बाहर गया; इधर घरकी मालकिनने अपने पतिके लिये भोजन परोसा। इसमें बहुत-सी ऐसी चीजें थीं जो अतिथिसे छिपाकर रखी गयी थीं। वह बेचारा लघुशङ्का करके अंदर हाथ धोने आया और इच्छा न रहनेपर भी सहज ही धनी मित्रकी भोजनकी थालीकी ओर उसकी दृष्टि चली गयी। उसने देखा, बादामका हलुआ है। एक कटोरेमें खीरकी मलाई और दूसरेमें दहीकी मलाई है। बहुत बढ़िया खूब फूले हुए पतले-पतले फुलके हैं; जिनपर ताजा मक्खन लगाया गया है। गोभी-परवलकी एवं कई और तरकारियाँ तथा कई तरहके अचार रखे हैं। यह सब देखकर उसकी समझमें स्पष्ट यह बात आ गयी कि इसी विषमताके कारण मुझे इसके साथ भोजन नहीं कराया गया था। वैषम्यजनित संताप और भी बढ़ गया और वह चुपचाप हाथ धोकर बाहर चला गया।

रात्रिका समय हुआ तो धनी मित्रने पत्नीसे पूछा—'अतिथिके सोनेका प्रबन्ध कहाँ करना चाहिये ?' स्त्रीने झुँझलाकर कहा—'मेरे सिरपर ! भला यह भी कोई पूछनेकी बात है ? जहाँ सुविधा हो, वहीं कर दिया जाय। घरमें आकर तो वह सोनेसे रहा।' पतिने कहा—'अच्छी बात है। बाहर गद्दीमें वे सो जायँगे, पर वहाँ मच्छर बहुत ज्यादा हैं, बेचारको नींद नहीं आयेगी। दो दिनके लिये मछहरी दे दो तो अच्छा हो। उसने तड़ककर कहा—'मेरे पास तो एक मछहरी है, आप लगा लें या उसके मूड मार दें।' पत्नीके स्वभावको वह जानता था। अधिक बात बढ़ाना हितकर न समझकर चुपचाप बाहर चला आया और अतिथि मित्रसे कहने लगा—'भाई साहेब ! गद्दी-तकिये लगे ही हैं, आप यहीं सो जाइये। यहाँ सुविधा रहेगी।' उस बेचारेने विनय-विनम्र शब्दोंमें स्वीकार किया। सेठ अंदर चले गये और वह वहीं सो गया। गरमीका मौसम था; मच्छर तो थे ही, गद्दी-तकियोंमें खटमलोंकी भी कमी नहीं थी। लेटते ही कतार-की-कतार निकलकर उन्होंने उसपर आक्रमण आरम्भ किया। खटमलोंको चुन-चुनकर फेंकने और मच्छरोंके उड़ानेमें ही रात बीत गयी। बेचारा घड़ीभर भी सुखकी नींद नहीं सो सका।

दूसरे दिन सबेरे वह घरसे निकलकर बाजारकी ओर गया। चौराहेपर पहुँचते ही उसे अपने गाँवका एक परिचित मनुष्य दिखायी दिया। उसने भी इनको देख लिया। वह बहुत गरीब था, पर था बड़ा सहृदय। देखते ही दौड़कर पास आया और बड़े प्रेम तथा उल्लाससे पूछने लगा—'भाई साहेब ! आप यहाँ कब आ गये ? मुझे कोई खबर ही नहीं दी। आपको बड़ा कष्ट हुआ होगा। खबर होती तो स्टेशन चला आता । यहाँ पहुँचकर भी आपने कोई संदेश नहीं भेजा। बताइये, आप ठहरे कहाँ हैं? चलिये घरपर। मैं सामान लेता

आऊँगा। मेरा बड़ा भाग्य है, जो आपसे मिलना हो गया। विदेशोंमें भला घरके प्रेमी पुरुष कहाँ मिलते हैं!'

उसकी सच्चे प्रेमसे सनी हुई वाणी सुनकर गरीब बेचारेका हृदय द्रवित हो गया। उसे बड़ा आश्वासन मिला, मानो डूबतेको सहारा मिल गया। उसने अपने आनेका सारा कारण कह सुनाया और कहा कि 'सामानमें तो मेरे पास एक धोती-गमछा, एक शतरंजी और लोटामात्र है। वह उन सेठजीके यहाँ रखा है।' उस गरीब भाईने कहा—'वे तो बहुत बड़े आदमी हैं। यदि आप मुझे अपना मानते हों तो आपको अपने घरपर आ जाना चाहिये। घरमें आरामसे रहिये; जो कुछ रूखा-सूखा घरमें बनता है, आनन्दसे खाइये। मैं फुटकर चीजोंकी खरीद-बिक्रीका काम करता हूँ। दो रुपये रोज कमा लेता हूँ। अकेला हूँ। आप रहेंगे तो हमलोग दो हो जायँगे। दुगुना काम होगा तो आमदनी भी दो-ढाई गुनी होने लगेगी। मेहनत और सच्चाईका काम है। जितनी मेहनत, उतनी बरकत। पचास रुपये मासिक तो आप घर भेज ही देंगे। अधिकके लिये भी कोशिश की जायगी। आप घबरायें नहीं। भगवान् गरीबोंकी सुनेगा ही। पचास रुपये तो मेरे पास पहलेके रखे हैं, इन्हें तो आज ही घर भेज दें।'—यों कहकर वह उसे अपने घर ले गया। छोटा-सा टीनसे छाया मिट्टीका घर था साफ-सुथरा। उसमें बाहर छोटी-सी दूकान थी। जाते ही उसने पचास रुपये निकाले और उनका तुरंत मनीआर्डर कर दिया। उस समय बेचारे अकाल-पीड़ितको कितना सुख और आश्वासन मिला, यह कहा नहीं जा सकता। फिर वह गरीब दूकानदार सेठके यहाँ जाकर उसका सामान ले आया।

घर लौटनेपर उसने अपनी पत्नीसे कहा—'अपने देशके एक सज्जन आये हैं। अपने परिचित भी हैं। उनके लिये भोजन बनाओ।'

साध्वी पत्नीने प्रसन्न होकर कहा—'बड़े भाग्य हैं हमारे, जो आज अपने देशके सज्जन आये हैं। हमलोग भी धन्य हैं, जो भगवान्‌ने हमें ऐसा सुअवसर दिया।' उसने बड़े प्रेमसे रसोई तैयार की। उस समय चावल सस्ते थे। मोटे चावल बने, मामूली पत्तियोंकी तरकारी, रूखी जौ-चनेकी रोटियाँ और मट्ठा। घरवालीने दोनोंको बड़े आदरके साथ बिना किसी भेदके समान-भावसे भोजन कराया; बल्कि अतिथिको बार-बार बड़े प्रेमसे आग्रह करके वह परस रही थी। आज उसे भोजन करनेमें बड़ी तृप्ति मिली। बड़ा सुख मिला। प्रेमकी सूखी रोटीमें जो आनन्द है, प्रेमरहित मेवा-मिष्टान्नमें वह कदापि नहीं है। खा-पीकर दोनों दूकानका काम देखने लगे।

रातको अपने सम्मान्य अतिथिके सोनेके लिये उस गरीब दूकानदारने एक मूँजकी बुनी पुरानी चारपाई, जो उसने तीन रुपयेमें खरीदी थी, डाल दी। उसपर टाटके बोरे बिछा दिये। मच्छरोंसे बचनेके लिये उसकी स्त्रीने अपनी महीन मलमलकी पुरानी ओढ़नी चार बाँसकी पट्टियाँ खड़ी करके उनपर तान दी। अकालपीड़ित भाईकी पहली रातकी नींद थी ही। चारपाईपर लेटते ही उसे गाढ़ी नींद आ गयी। रातभर वह बड़े सुखसे सोया। सारी थकावट दूर हो गयी।

तीन-चार दिनोंके बाद एक दिन रास्तेमें धनी मित्रके साथ अकालपीड़ित भाईकी भेंट हो गयी। धनी मित्रने सभ्यतासे पूछा—'क्यों, कहीं कामकी व्यवस्था हुई ? कहाँ रहते हैं; खाने-पीनेको मिल रहा है न ?' उसने कहा—'बहुत अच्छी व्यवस्था हो गयी है। मैं अपने देशके अमुक दूकानदार भाईके घरमें रहता हूँ, पति-पत्नी दोनों बड़े ही सज्जन हैं। दूकानमें मेरा आधा हिस्सा कर दिया है। पचास रुपये तो उसी दिन घर भिजवा दिये और भविष्यके लिये यह आश्वासन दिया है कि भोजनकी तो कोई बात ही नहीं, घरमें एक साथ करेंगे ही।

कम-से-कम पचास रुपये प्रतिमास बाल-बच्चोंके लिये घर भेज दिये जायँगे। खाने-पीनेकी भी बड़ी अच्छी व्यवस्था है। उनके यहाँ अमृततुल्य भोजन करके मुझे बड़ी ही तृप्ति मिलती है। उनका इतना ऊँचा प्रेमभरा समताका व्यवहार है कि मैं तो उसे जीवनभर नहीं भूल सकता।' उसकी इन बातोंको सुनकर मानो सेठके गर्वपर कुछ ठेस-सी लगी, पर सच्ची बात थी। उसे अपने बर्तावका पूरा पता था। बोलता भी क्या। एक बात सूझी, उसे बड़ा गर्व था कि हमारे घर बड़ा बढ़िया भोजन बनता है। बढ़िया सजा-सजाया मकान है, गद्दी-तकिये, झाड़-फानूस लगे हैं। उस गरीबके यहाँ ऐसी चीजें कहाँसे होंगी। अतएव उसने अपनी बात ऊँची रखने तथा उस गरीब दूकानदारकी निन्दा करनेकी इच्छासे कहा—'वहाँ आपको भोजन क्या मिला होगा। वही मोटे चावल, रूखी-सूखी रोटी, घास-पातकी तरकारी और सोनेको खाली जमीन या बहुत हुआ तो कोई पुरानी चारपाई मिली होगी। उस कँगलेके यहाँ और रखा ही क्या है। यहाँके बढ़िया भोजन और सजे-सजाये हुए घरको छोड़कर आप वहाँ गये, अब तो मनमें पछताते होंगे।' उसने हँसकर कहा—'भाई साहेब! आप अपने घरमें बड़े धनी हैं। आपके यहाँ गद्दी-तकिये हैं, झाड़ू-फानूस लगे हैं। सजा-सजाया मकान है। मेरे लिये तो ये सब विषके समान हुए। बढ़िया भोजन भी बनता है, परंतु मुझे इससे क्या। आपके यहाँ मुझे न तो खानेका सुख मिला और न सोनेका ही! मैं तो खटमल-मच्छरोंसे तंग आ गया। रातभर नींद नहीं आयी। मेरे लिये तो वह मूँजकी चारपाई, टाटका बिछौना और पुरानी ओढ़नीकी मछहरी ही परम सुखप्रद है, जिनसे मैं रातको बड़े सुखसे सोता हूँ। भोजनकी तो मैं क्या कहूँ। वहाँ मुझे उन मोटे चावलों, रूखी रोटियों और पत्तीकी तरकारीमें जैसा सुख मिलता है, वैसा कहीं नहीं मिला। आपका

भोजन तो विषवत् था और उसका साक्षात् अमृतके सदृश है। आपलोगोंके मनमें मैं बोझ-सा था। आप मेरे आनेको आफत मानते थे और मनमें विषमता भरी थी। महात्मा लोग कहा करते हैं कि 'विषमता ही विष है और समता ही अमृत है।' अतः आपके मेवा-मिष्टान्न भी विषमताके कारण विषतुल्य थे और उसके रूखे-सूखे भोजनमें समता होनेसे वह अमृतके तुल्य है। इतना ही नहीं, उसका बर्ताव अमृतके समान है। आपके पास लाखों रुपये हैं और लाखोंकी ही आमदनी है तथा आप मेरे बचपनके धर्मभाई भी हैं; पर आपने मेरे भूखसे बिलबिलाते बच्चोंके लिये न तो कुछ भेजना स्वीकार किया और न मेरे लिये पचास-साठ रुपये वेतनकी नौकरी ही दी। उस बेचारे गरीब दूकानदारने, जिससे मेरा केवल एक गाँवके होनेके नाते साधारण परिचयमात्र था, गरीब निर्धन होते हुए भी मुझे आश्रय दिया, मेरी सहायता की, पचास रुपये तुरंत घर भिजवा दिये, मुझे अपने काममें बराबरका हिस्सेदार बना दिया। बतलाइये, मैं उसके उपकारको कैसे भूल सकता हूँ। उसने यह जो किया, सो भी उपकारकी भावनासे नहीं—विशुद्ध प्रेमसे और कर्तव्यकी भावनासे। वह मेरे ऊपर अहसान नहीं करता; बल्कि मुझे सुख पहुँचाकर वह उलटे मेरा कृतज्ञ होता है और इसमें अपनेको धन्य मानकर सुखी होता है। उसकी धर्म-पत्नीका भी ऐसा ही ऊँचा भाव है। उन दोनोंके चेहरे इसलिये प्रफुल्लता और उल्लाससे चमकते-दमकते रहते हैं।'

धनी मित्रने पूछा—'मेरे यहाँ आपको किस बातमें विषमता दिखलायी दी और उसके यहाँ समता कैसे थी?' इसपर उसने कहा—'आपके यहाँ मुझे बहुत बढ़िया भोजन-पदार्थ मिले, इसमें कोई संदेह नहीं। परंतु मेरे लिये वे विषके तुल्य हो गये। आपको स्मरण होगा, मुझे अतिथि बतलाकर पहले अकेले भोजन कराया

गया। भोजन करनेपर मैं लघुशङ्काके लिये बाहर गया। मैं हाथ धोनेके लिये लौटा तो मेरी दृष्टि आपके भोजन-पदार्थोंकी ओर चली गयी। मैंने देखा, आपके लिये बादामका हलुआ, मक्खन, पतले-पतले फुल्के, खीर, दहीकी मलाइयाँ, गोभी-परवल आदिकी तरकारियाँ और अचार आदि रखे हैं। ये सब चीजें मुझे नहीं परोसी गयी थीं। मुझे इनके खानेका शौक नहीं है, परंतु इस विषमताको देखकर मुझे दुःख हुआ। मैं समझता हूँ, आपको ये चीजें विशेषरूपसे खिलानी थीं, इसीलिये आपकी धर्मपत्नीने 'अतिथिको पहले भोजन करानेका' बहाना करके आपको पीछे अलग जिमाना चाहा था। ऐसा भेद न करके मुझे भी आपके साथ ही भोजन कराया जाता तो क्या होता? कुछ पैसे ही तो अधिक खर्च होते। आपने भी इस बातपर कुछ भी विचार नहीं किया और पत्नीका प्रस्ताव मान लिया। धर्मभाईके साथ ऐसा बर्ताव क्या कलङ्क नहीं है? इसी विषमताके कारण आपका भोजन विषवत् था।'

'उधर उसका व्यवहार देखिये। वह बेचारा बड़ा गरीब है; पर उसकी पत्नीने मोटे चावल, रूखी-सूखी रोटियाँ, पत्तियोंकी तरकारी और छाछ—जो कुछ घरमें था, हम दोनोंको एक साथ बैठाकर समान भावसे बड़े आदर-प्रेम तथा उल्लासके साथ भोजन कराया। रातको सोनेके लिये अपने सोनेकी एकमात्र चारपाई डाल दी। बिछानेके लिये टाट दे दी और मच्छरोंके उपद्रवसे बचनेके लिये अपनी ओढ़नीकी मछहरी तान दी। उसके ऐसे निष्काम प्रेम और समताके व्यवहारने मुझपर जो प्रभाव डाला, उसे मैं ही जानता हूँ। मैं तो वहाँ इसीलिये अमृत-ही-अमृत पाता हूँ और उसके व्यवहारका स्मरण करके बार-बार प्रफुल्लित और हर्षसे गद्‌गद हो जाता हूँ।'

धनी मित्रने बहाना करके कहा—'मैं बीमार रहता हूँ। मुझे

मन्दाग्नि हो रही है, इसीसे वैद्यने मुझे ये चीजें खानेको बता रखी हैं।' इसपर उसने कहा कि 'प्रथम तो मन्दाग्निकी बीमारीमें ये चीजें खानेको दी नहीं जातीं और यदि ऐसा हो भी तो मुझे भी वे चीजें परसी जातीं तो क्या हानि थी?'

धनी मित्रके पास कोई उत्तर नहीं था। वह अत्यन्त लज्जित होकर अपनी व्यवहार-विषमता तथा प्रेमहीनताके लिये मन-ही-मन पछताने लगा और सिर नीचा करके वहाँसे चल दिया।

यह एक कल्पित दृष्टान्त है। इससे हमको यह सीखना चाहिये कि सबके साथ प्रेम और विनयसे युक्त त्याग तथा उदारताका बर्ताव करें। खान-पानादि व्यवहारमें पूर्ण समता रखें। इसका यह अर्थ नहीं कि विधर्मी और विजातीय पुरुषोंके साथ एक पंक्तिमें बैठकर उन-जैसा ही निषिद्ध आहार करें। भाव इतना ही है कि विधर्मी और विजातीय कोई भी क्यों न हो, सबको यथायोग्य शास्त्रानुकूल आदर-सत्कार-पूर्वक, विनय और प्रेमपूर्वक बिना किसी भेद-भावके वही भोजन करायें, जो अपने लिये बनाया गया हो और पहले उनको भोजन कराके फिर स्वयं भोजन करें। नीयत शुद्ध होनी चाहिये अर्थात् मनमें जरा भी वैषम्य नहीं होना चाहिये।

ईश्वर दयालु और न्यायकारी है

सच्चिदानन्दघन अखिल विश्वेश्वर परमदयालु परमेश्वरकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले प्रायः सभी मतोंके लोग इस बातको स्वीकार करते हैं कि ईश्वर दयालु और न्यायकारी है। ईश्वरमें केवल दयालुता या केवल न्यायकारिताका एकाङ्गी भाव नहीं है। उसमें ये दोनों ही गुण एक ही समय, एक ही साथ पूर्णरूपसे रहते हैं और वे जीवोंके प्रति व्यवहार करनेमें दोनों ही भावोंसे एक ही साथ काम लेते हैं। इसपर कुछ लोग ऐसी शङ्का किया करते हैं कि 'न्याय और दया' दोनों गुण एक साथ कैसे रह सकते हैं? अदालतमें न्यायासनपर बैठा हुआ जज यदि दयाके वश होकर दण्डके योग्य वास्तविक अपराधी व्यक्तिको बिलकुल दण्ड न दे या उचितसे कम दे, तो क्या उसके न्यायमें कोई बाधा नहीं आती अथवा यदि वह अपराधीको पूरा दण्ड दे दे तो उसकी दया वहाँ क्या बिलकुल बेकार नहीं रह जाती? इसी प्रकार ईश्वरके लिये भी क्यों नहीं समझना चाहिये?'

इस शङ्काका उत्तर देना सहज काम नहीं है। परमात्माके गुणोंका विवेचन करना और उनपर टीका-टिप्पणी करना मुझ-जैसे मनुष्यके लिये तो निरा लड़कपन ही है, परंतु अपने चित्त-विनोदार्थ परमात्माके गुणगानकी भावनासे यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है। वास्तवमें मनुष्यकृत कानूनके साथ ईश्वरके कानूनकी समता कदापि नहीं की जा सकती। मनुष्य यदि स्वार्थसे कानून नहीं बनाता तो उसपर वातावरण और परिस्थितिका प्रभाव तो जरूर ही पड़ता है। भविष्यके विवेचनमें भी वह सर्वथा निर्मूल नहीं समझा जा सकता, आसक्ति या अन्य किसी कारणवश उसमें अन्यान्य प्रकारसे भी भूलके लिये गुंजाइश रह सकती है; परंतु ईश्वरमें भूलके लिये तनिक भी गुंजाइश नहीं है। इसके

सिवा ईश्वर दया, न्याय और उदारताकी अनन्त निधि होनेके कारण उसके कानूनमें भी दया, न्याय और उदारताकी बहुलता रहती है। सच्ची बात तो यह है कि जगत्‌को सत्य समझनेवाला मनुष्य स्वार्थहीन न होनेके कारण न्याय, दया और उदारतासे भरे कानून बना ही नहीं सकता। सब प्रकारसे स्वार्थरहित, सबके सुहृद्, दयाके समुद्र महापुरुष, जिनके सुहृदता, दया, प्रेम, वात्सल्य आदि गुणोंकी थाह ही नहीं मिलती; भले ही वैसे नियम बना सकें। साधारण मनुष्योंका तो यह काम नहीं है। अतएव यद्यपि मानवीय कानूनके साथ ईश्वरीय कानूनकी तुलना तो हो ही नहीं सकती; तथापि विचार करनेपर मनुष्योंमें भी दया और न्याय दोनोंका एक साथ रहना सिद्ध हो सकता है। इसके लिये कुछ कल्पित उदाहरण दिये जाते हैं।

रामलाल नामक एक व्यापारीके दो हजार रुपये नारायणप्रसाद नामक कायस्थसे लेने थे। नारायणप्रसाद सच्चा और ईमानदार आदमी था; परंतु कई तरहकी आपत्तियाँ आ जानेके कारण उसका सारा रोजगार नष्ट हो गया, घरकी सारी सम्पत्ति यहाँतक कि पत्नीके सुहागके गहने भी बिक गये और वह चालीस रुपये मासिकपर एक जगह नौकरी करने लगा। इतनी कम आमदनीमें बहुत ही मुश्किलसे उसके बड़े कुटुम्बके पेटमें अनाज पहुँचता था; परंतु चारों ओर फैली हुई बेकारीमें अधिककी कहीं गुंजाइश ही नहीं थी। रामलालने रुपयोंके लिये तकाजा शुरू किया; परंतु नारायणप्रसाद किसी तरह रुपये नहीं दे सका। रामलालने अदालतमें नालिश कर दी। जिस जजके सामने मुकदमा था, वह बड़ा ही नेक, कानूनका जानकार, न्यायकारी और दयालु था। नारायणप्रसादने जजकी सेवामें उपस्थित होकर कहा कि 'हुजूर ! मुझे सेठ रामलालके दो हजार रुपये जरूर देने हैं और मैं मरते दमतक उन्हें दूँगा; परंतु इस समय मेरी बड़ी ही तंग हालत है, मेरे

घरमें एक पैसा भी नहीं है, न कोई मिल्कियत ही है, आप भलीभाँति जाँच कर लें। मैं चालीस रुपये महीनेपर एक जगह नौकर हूँ, घरमें लड़के-बच्चे मिलाकर सब आठ प्राणी हैं, उनकी गुजर बड़ी कठिनतासे होती है; तथापि मैं किसी तरह कष्ट सहकर भी दो सौ रुपये सालाना किस्तके हिसाबसे रामलालजीको दूँगा। इतनेपर भी रामलालजी मुझे बाध्य करेंगे और आप जेल भेजेंगे तो मैं जेल चला जाऊँगा, पर इन्सालवेंट (दिवालिया) नहीं होऊँगा, अवश्य ही उस हालतमें मेरे बाल-बच्चोंपर आफतका पहाड़ टूट पड़ेगा। हुजूरको जैसा अच्छा लगे वैसा ही करें।

नारायणप्रसादकी सच्ची बातें सुनकर जज प्रसन्न हो गया। उसने कहा—'भाई! तुम अपने महाजनको समझा-बुझाकर ठीक कर लो, तुम्हारी ऐसी हालतपर उसे जरूर तुम्हारी शर्त मान लेनी चाहिये।' नारायणप्रसादने रामलालको बहुत समझाया, बहुत विनय-प्रार्थना की, परंतु रामलालने कहा कि 'मैं किसी तरह नहीं मानूँगा।' अदालतमें मामला पेश हुआ, रामलालके दो हजार रुपये नारायणप्रसादको देने हैं, यह साबित हो गया। जजने जाँच करके इस बातका पता लगा लिया कि नारायणप्रसादने अपनी जो हालत बतलायी थी, अक्षरशः सत्य है। स्वयं रामलालने इस बातको मंजूर किया। इसपर रामलालके मना करनेपर भी जजने नारायणप्रसादके कथनानुसार दो सौ रुपये सालानाकी किश्त करके उसपर दो हजारकी डिग्री दे दी। जजकी दयालुता देखकर नारायणप्रसाद विह्वल हो गया। क्या इस फैसलेमें जज अन्यायी समझा जायगा? क्या उसका यह काम रिश्वतखोरीका माना जायगा और क्या इसमें दयालुता नहीं मानी जायगी? इसमें दया और न्याय दोनों ही हैं। जब यहाँके कानूनमें ऐसा होता है, तब श्रीभगवान् अपने भक्तको उसके इच्छानुसार फैसला दे दें तो क्या इसमें उनकी दयालुता या न्यायमें दोष आता है?

अब फौजदारीके दो उदाहरण देखिये—

गोविन्दराम और रामप्रसाद एक ही मुहल्लेमें रहते थे। वे आपसमें सदा ही तर्क-वितर्क किया करते। तर्कमें लड़ाईका डर रहता ही है। एक दिन परस्पर शास्त्रार्थमें रामप्रसादको अपने विपरीत सिद्धान्त सुनकर गुस्सा आ गया। क्रोधमें मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है, अतः उसने दो-चार हाथ जोरसे गोविन्दरामपर जमा दिये। गोविन्दरामने उसपर फौजदारी दावा कर दिया। रामप्रसादको इस बातका पता लगते ही उसने मजिस्ट्रेटकी सेवामें जाकर सारी बातें सच-सच कह दी। उसने कहा कि 'हमलोग धर्मके सम्बन्धमें आपसमें विवाद कर रहे थे, गोविन्दरामने मुझे न्याययुक्त ही फटकारा था। परंतु अपने मनके बहुत विपरीत होनेसे मुझे गुस्सा आ ही गया, जिससे मेरे द्वारा यह अपराध बन गया। जो कुछ दोष है, सो वास्तवमें मेरा ही है। मुझे अपनी करनीपर बड़ा ही पश्चात्ताप है; अब आप जो कुछ आज्ञा करें, वही करनेको मैं तैयार हूँ।' मजिस्ट्रेटने कहा कि 'भाई ! मैं इसमें कुछ भी नहीं कर सकता, तुम गोविन्दरामके पास जाकर उससे क्षमा-प्रार्थना करो; वह चाहे तो तुम्हें क्षमा कर सकता है, तुम्हारे लिये यही सबसे सरल उपाय है।' मजिस्ट्रेटकी बात सुनकर रामप्रसाद गोविन्दरामके घर गया और उसके चरणोंमें पड़कर अपना दोष स्वीकार करते हुए क्षमा-प्रार्थना की और कहा कि 'अब मैं आपकी चरण-शरणमें आ पड़ा हूँ, मैं जरूर अपराधी हूँ; पर मुझे छोड़ना पड़ेगा।' उसकी अनुनय-विनय सुनकर और उसके हृदयमें सच्चा पश्चात्ताप देखकर गोविन्दराम राजी हो गया और उसने मुकदमा उठानेकी दरखास्त दे दी। मजिस्ट्रेटने दरखास्त मंजूर करके रामप्रसादको बेदाग छोड़ दिया। क्या इसमें कोई भी मनुष्य यह कह सकता है कि गोविन्दराम या मजिस्ट्रेटने कोई अन्याय किया या उन्होंने दया नहीं की ? एक समय भक्त अम्बरीषका अपराध करनेपर दुर्वासा मुनिको

भगवान् श्रीविष्णुने भी उसीकी शरणमें भेजा था; वहाँ जानेपर अम्बरीषने चक्रसे विनय करके उनके प्राण बचा दिये थे। दया और न्याय दोनों ही क्रियाएँ साथ-साथ सम्पन्न हुईं।

शिवराम नामक एक भले स्वभावका सदाचारी मनुष्य एक गाँवमें रहता था, उसी गाँवमें एक डाकूका घर था। शिवराम कभी-कभी उससे डकैतीकी घटनाएँ सुनता था। कुसङ्गका फल बहुत बुरा होता है। शिवरामका मन एक दिन ललचाया। लोभने उसकी बुद्धि बिगाड़ दी, परिणाम, ज्ञान-शून्य होकर वह नन्दराम नामक गृहस्थके घर डाका डालकर तीन हजार रुपये नकद और कुछ गहने लूट लाया। आत्मरक्षाके लिये रोकनेवालोंपर दो-चार लाठियाँ भी जमा दीं।

धन लेकर घर पहुँचा और अपनी स्त्रीसे सारा हाल कहा। शिवरामकी पत्नी बड़ी साध्वी थी, उसे स्वामीके इस कृत्यको सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उसने चरणोंमें सिर टेककर स्वामीको धर्म सुझाया और प्रार्थना की कि यह धन अभी आप लौटा दीजिये। शिवराम वास्तवमें अच्छा आदमी था, वह डकैती पेशावाला तो था ही नहीं, कुसङ्गसे उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी थी। स्त्रीके समझानेपर उसे अपना अपराध दीपककी ज्योतिकी भाँति स्पष्ट दीखने लगा। पत्नीकी सलाहसे वह तुरंत धन लेकर कलक्टर साहेबके बँगलेपर गया और रुपये तथा गहने उसके पास रखकर आत्मसमर्पण करते हुए उसने गिड़गिड़ाकर कहा कि 'मुझसे बड़ा भारी अपराध हो गया, कुसङ्गसे मेरे मनमें लोभ पैदा हो गया था, जिससे मेरी मति मारी गयी। मैंने बेचारे नन्दरामको अन्यायरूपसे सताया और वह कुकर्म किया, जो मेरे बाप-दादोंमें किसीने भी नहीं किया था। मेरा अपराध किसी प्रकार क्षम्य तो नहीं है, परंतु मैं आपकी शरण हूँ, आप मुझे बचाइये। भविष्यमें मैं कभी ऐसा कुकर्म नहीं करूँगा।' कलक्टरको उसकी बातपर विश्वास हो गया, उसने सोचा कि यदि इसकी नीयत खराब

होती तो माल लेकर हाजिर क्यों होता। कलक्टरने उसे वहीं रोककर पुलिसके द्वारा नन्दरामको बुलवाया। नन्दराम पुलिसमें इत्तला करने जा ही रहा था कि उसको एक कान्स्टेबलने आकर कहा—'तुम्हारे घर जिसने डकैती की है, वह मालसमेत कलक्टर साहेबके बँगलेपर हाजिर है, साहेबने तुम्हें अभी बुलाया है।' माल मिलनेकी बात सुनते ही नन्दरामको बड़ी खुशी हुई और वह तुरंत ही सिपाहीके साथ साहेबके बँगलेपर जा पहुँचा। उसे देखकर शिवरामने उसके चरण पकड़ लिये और अपना अपराध क्षमा करनेके लिये रो-रोकर प्रार्थना करने लगा। नन्दरामने उसकी एक भी नहीं सुनी और कहा कि 'तुझे जेल भिजवाये बिना मैं कभी न छोड़ूँगा।' मामला कोर्टमें गया। कलक्टर साहेबके पूछनेपर शिवरामने वे ही बातें साफ-साफ कह दीं, जो उसने बँगलेपर कही थीं, इसपर साहेबने नन्दरामसे पूछा कि 'बताओ, इसके चाल-चलनके सम्बन्धमें तुम्हारा क्या खयाल है?' नन्दरामको स्वीकार करना पड़ा कि 'मैं इसे जानता हूँ, यह अच्छे घरानेका लड़का है, डाकुओंकी संगतिसे इसे दुर्बुद्धि पैदा हुई होगी। परंतु इसे सजा जरूर मिलनी चाहिये, नहीं तो यह फिर ऐसे ही काम करेगा।' कलक्टर दयालु था; वह शिवरामकी सरलता और सत्यतापर मुग्ध हो गया और उसने भविष्यके लिये सावधान करके शिवरामको छोड़ दिया। इस प्रकार दया करनेवाला कलक्टर क्या अन्यायी समझा जायगा? इसी प्रकार सच्चे और सरल हृदयसे भगवान्‌की शरण होनेपर वे भी मुक्त कर देते हैं।

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है, ये सब उदाहरण तो साधारण अपराधोंके हैं। खून आदिके मामलेमें विपक्षके लोग राजी हो जायँ तो भी न्यायकारी जज अपराधीको नहीं छोड़ सकता; यदि छोड़ देता है तो वह अवश्य ही अन्यायी समझा जाता है। इसका उत्तर देनेसे पूर्व यह समझना चाहिये, खून या मनुष्य-वध तीन प्रकारसे किया जाता

है—न्यायके लिये, भूलसे या जानबूझकर अन्यायसे। न्यायके लिये किया जानेवाला मनुष्यवध तो खूनके अपराधमें गिना ही नहीं जाता। निःस्वार्थभावसे धर्मकी रक्षाके लिये, लोकहितके लिये, न्याय-रक्षाके लिये या आत्मरक्षाके लिये जो नर-वध होते हैं, उनमें तो मारनेवाला दण्डनीय ही नहीं होता। अपराधीको न्याययुक्त फाँसीकी सजा देनेवाले जज या फाँसीकी सजा पाये हुए मनुष्यको फाँसीपर लटकानेवाले जल्लादको कोई अपराधी नहीं मानता। यथार्थमें डाकुओंसे धन-प्राणको बचानेके लिये उनपर शस्त्र-प्रहार करनेवाला भी पुरस्कारका पात्र समझा जाता है। हालमें बंगाली युवतीने बुरी नीयतसे घरमें घुसकर आनेवाले एक नौजवानको मार डाला था। वह पकड़ी गयी, परंतु कोर्टने उसके कार्यकी प्रशंसा करते हुए उसे छोड़ दिया। अवश्य ही मनुष्यके न्यायमें इस गलतीके लिये गुंजाइश रह सकती है कि वह किसी स्थलमें न्यायानुकूल कर्म करनेवालेको भी दण्डनीय समझ ले, परंतु अन्तर्यामी सर्वतश्चक्षु परमात्माके यहाँ तो ऐसी भूलकी कोई सम्भावना ही नहीं।

दूसरे प्रकारका खून भूलसे होता है। ऐसे खूनका अपराधी कसूरवार तो समझा जाता है; क्योंकि उसकी असावधानीसे ही नरहत्या होती है। ऐसा अपराधी चेष्टा करनेपर छूट जाता है, या कोशिशकी कमीसे उसे कुछ सजा भी हो सकती है।

तीसरे प्रकारका खून क्रोध, लोभ, वैर आदिके कारण जान-बूझकर किया जाता है; ऐसा अपराधी कसूर साबित होनेपर यहाँके कानूनके अनुसार प्रायः न्यायालयसे नहीं छूट सकता।

इनमें पहलेके उदाहरण तो दिये जा चुके हैं, ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। श्रीखड्गबहादुर नामक नैपाली युवकने अत्याचारी हीरालाल अग्रवालको मार डाला था, उसे हलका दण्ड भी हो गया था; परंतु लोगोंके कहनेपर वाइसरायने छोड़ दिया।

दूसरेके लिये निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है—

राजपूतानेके एक गाँवका रामसिंह नामक एक राजपूत नवयुवक जंगलमें पहाड़ीके नीचे निशाना मारना सीख रहा था, पास ही उसका मित्र सजनसिंह खड़ा था। निशानेपर मारनेके लिये वह बंदूकका घोड़ा दबा ही रहा था कि सामनेसे एक आदमी जाता दिखलायी पड़ा; उसको बचानेके लिये उसने हाथ घुमाया, घोड़ा दब गया और गोली छूटकर पास खड़े सजनसिंहके हृदयको चीरकर पार हो गयी। वह धड़ामसे गिर पड़ा। रामसिंहके होश हवा हो गये। पुलिस आयी। रामसिंह खूनके अपराधमें पकड़ा गया, एक तो उसे अपने हाथसे मित्रके मरनेका दुःख था और दूसरा यह राजसंकट। बेचारेकी बड़ी ही दुर्दशा थी। कोर्टमें मामला पेश हुआ। रामसिंहने सारी घटना सच-सच सुनाकर दुःख प्रकट करते हुए क्षमा माँगी। हाकिमने सजनसिंहके घरवालोंसे पूछा कि 'आपलोग सच कहें कि आपकी समझसे रामसिंहकी नीयतमें कोई दोष था या नहीं ? यह जिस गलतीको बता रहा है, उसके सम्बन्धमें आपलोगोंकी क्या धारणा है ?' उन लोगोंने कहा कि 'हमलोग भी इस बातपर तो विश्वास करते हैं कि इसकी नीयत सजनसिंहको मारनेकी नहीं थी, वह इसका मित्र भी था, हमलोग भी उस समय वहीं उपस्थित थे। परंतु इसकी असावधानीसे वह मारा गया, अतएव इसे दण्ड अवश्य मिलना चाहिये।' हाकिमने उसकी नीयत और सत्यतापर विश्वास कर आगेके लिये सतर्क करते हुए उसे बेदाग छोड़ दिया। क्या इस प्रकार दया करनेवाले हाकिमको कोई अन्यायी कह सकता है ? जब मनुष्य भी इस तरह दया और न्यायका बर्ताव एक साथ कर सकता है, तब शरण जानेपर न्यायकी रक्षा करते हुए ही परमात्मा उसके अपराधोंको क्षमा कर दें, इसमें क्या आश्चर्य है ?

इस उदाहरणपर एक प्राचीन गाथाका स्मरण हो आता है, जिसमें भूलसे अपराध करनेवाले परम धार्मिक पुरुषको दण्ड भोगना पड़ा

था। इतिहास महाराज दशरथका है, जिनके हाथसे मातृ-पितृभक्त श्रवणकुमार मारा गया था। इस इतिहासको लेकर लोग प्रश्न किया करते हैं कि जब महाराज दशरथका भूलसे किया हुआ अपराध क्षमा नहीं हुआ, तब यह कैसे माना जा सकता है कि भूलसे किये हुए अपराधीका अपराध क्षमा हो जाता है ?' इस शङ्काका उत्तर इतिहास-सहित इस प्रकार है—

महाराज दशरथ एक समय रातको वनमें हिंसक पशुओंके शिकारके लिये गये थे। एक जगह उन्होंने नदीमें हाथीकी गर्जना-सा शब्द सुनकर तीक्ष्ण शब्दवेधी बाण मारा। उसी क्षण किसीके कराहनेकी स्पष्ट आवाज आयी और ये शब्द सुने कि 'अरे ! मुझ निर्दोष तपस्वीको बिना अपराध किसने मारा ? मैंने किसीकी क्या बुराई की थी, जो इस प्रकार मुझे मार डाला। अब मेरे बूढ़े माँ-बापकी कौन सेवा करेगा ? उन्हें कौन खिलाये-पिलायेगा।' इन दयनीय शब्दोंको सुनकर दशरथके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने घबराये हुए दौड़कर नदी-तीरपर आकर देखा तो एक जटाधारी तपस्वी ऋषि खूनसे लथपथ पड़े हैं। दशरथके क्षमा-प्रार्थना करनेपर ऋषिने कहा कि 'मेरे अंधे माँ-बाप प्यासे हैं, मैं उनके लिये जल भरने आया था, घड़ा भरनेमें शब्द हुआ, इसीपर तुमने बाण मार दिया। मेरे माता-पिता मेरी बाट देखते होंगे, जाकर उन्हें यह वृत्तान्त कहो, उनको प्रसन्न करो, जिससे वे तुम्हें शाप न दे दें। मेरे शरीरसे बाण निकाल दो, मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है। तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगेगा; क्योंकि मैं श्रवणकुमार नामक वैश्य हूँ।' इसपर दशरथजीने उनका बाण निकाला और उसके निकलते ही श्रवणके प्राण निकल गये। राजा जल लेकर श्रवणके माता-पिताके पास गये। वे पुत्रकी प्रतीक्षा कर रहे थे, पैरोंकी आहट सुनकर उन्होंने देरसे आनेका कारण पूछा। दशरथने अपना नाम-पता

बताकर बड़ी ही विनयके साथ सारा हाल उन्हें सुनाया और जल पीनेके लिये प्रार्थना की। बूढ़े दम्पति एक बार मूर्च्छित हो गये, फिर होशमें आकर कहने लगे—'राजन्! अपना यह अशुभ कर्म तुम स्वयं आकर हमसे न कहते तो तुम्हारे सिरके हजारों टुकड़े हो गये होते। तुमने भूलसे यह कार्य किया है, कहीं जान-बूझकर करते तो समस्त रघुकुल ही नष्ट हो जाता। अब हम दोनोंको भी वहाँ ले चलो।' दशरथ दोनोंको वहाँ ले गये। वे दोनों पुत्रके शरीरको स्पर्श करके वहीं गिर पड़े और भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे। दुःखी ऋषिने मरते समय कहा—'दशरथ! जैसे मैं आज पुत्रवियोगके दुःखसे मर रहा हूँ, वैसे ही तुम्हारी मृत्यु भी पुत्र-वियोगके शोकसे ही होगी।' इतना कहकर वे दोनों भी परलोक सिधार गये।

तदनन्तर राजाने यज्ञ किया, जिसके फलस्वरूप उनके श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न—ये चार पुत्र हुए। श्रीरामको वनवास हुआ और इसी पुत्रवियोगके कारण ही राजाकी मृत्यु हुई। यह इतिहास वाल्मीकि-रामायण २। ६३ में है। इससे सिद्ध होता है कि राजाको दण्ड अवश्य मिला; परंतु यह दण्ड वास्तवमें बहुत ही अल्प था। पुत्र वनवासी ही हुए, न कि श्रवणकी भाँति उनका चिर-वियोग हो गया। हमारी समझसे यदि राजा दशरथ विशेष चेष्टा करते तो सम्भवतः यह दण्ड भी क्षमा हो सकता था। राजाकी व्याकुल दशाको देखकर श्रवणने तो अपनी ओरसे उन्हें क्षमा ही कर दिया था और माता-पिताको समझानेके लिये भेजा था। इसी प्रकार श्रवणके माता-पिताकी विशेष दया हो जाती तो वहाँसे भी दशरथजी बेदाग छूट सकते थे। उन्होंने जितनी कोशिश की, उतना ही कार्य हुआ। कोशिश करना भी प्रायश्चित्त ही है। सम्भव है, महाराज दशरथ उस समय परमेश्वरसे विशेष प्रार्थना करते और ईश्वर चाहते तो श्रवणकुमारके पिताकी बुद्धिमें पवित्रता और दयाका संचार करके उनके द्वारा दशरथको क्षमा

करवा देते। यदि ऐसा होता तो ईश्वरके न्यायमें कोई भी दोष नहीं समझा जाता। बात तो यह है कि मनुष्यके द्वारा कैसा भी अपराध क्यों न बन जाय, ईश्वरकी शरण होकर उसके अनुकूल प्रायश्चित्तादि उपाय करनेसे, बिना ही भोग किये उसके पाप क्षमा हो सकते हैं। प्रायश्चित्त आदि उपायोंसे भी फलभोगके समान ही पापोंका नाश हो जाता है; क्योंकि प्रायश्चित्त भी एक प्रकारसे भोग ही है।

अवश्य ही वर्तमान कालके कानूनमें तीसरे प्रकारके जानबूझकर बुरी नीयतसे किये हुए खूनके लिये दयाका ऐसा प्रयोग नहीं मिल सकता, जिसका उदाहरण देकर ईश्वरकी दया समझायी जा सके; परंतु इतना तो सभीको मानना होगा कि सच्चे न्यायकारी, प्रजाहितैषी राजाका उद्देश्य भी तो दण्डके कानून बनाने और तदनुसार दण्ड देनेमें अपराधीपर दया करना ही होता है। न्यायी राजा अपराधीको दण्ड देकर उसे शिक्षा देना और उसका सुधार करना चाहता है, द्वेषसे उसे दुःख पहुँचाना और अकारण ही उसकी हत्या करना नहीं चाहता। हत्याका उद्देश्य तो द्वेषपूर्ण और प्रतिहिंसा वृत्तिवाले मनुष्यका ही हो सकता है। इतना होनेपर भी न्यायपरायण राजाकी तुलना ईश्वरके साथ कदापि नहीं की जा सकती। ईश्वरका कानून दया, सुहृदता और जीवोंके हितसे पूर्ण होता है। हमलोग तो उसकी कल्पनातक भी नहीं कर सकते।

ईश्वरका दण्ड भी वरके सदृश होता है। ईश्वरके न्यायसे फरियादी और असामी दोनोंका ही परिणाममें हित और उद्धार होता है, यही उसकी विशेषता है। परम दयालु परमात्माके कानूनके अनुसार जो अपराधी अपनी भूलको सच्चे दिलसे स्वीकार करता हुआ भविष्यमें फिर अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा करता है और सच्चे हृदयसे ईश्वरकी शरण होकर सर्वस्वसहित अपनेको उसके चरणोंमें अर्पण कर देता है एवं ईश्वरकी कड़ी-से-कड़ी आज्ञाको उसके भयानक-से-भयानक

विधानको, उसके प्रत्येक न्यायको सानन्द स्वीकार करता तथा उसे पुरस्कार समझता है, साथ ही अपने किये हुए अपराधोंके लिये क्षमा नहीं चाहकर दण्ड ग्रहण करनेमें खुश होता है, ऐसे सरलभावसे सर्वस्व अर्पण करनेवाले शरणागत भक्तको भगवान् अपराधोंसे मुक्त करके उसे अभय कर देते हैं। इसमें दयालु ईश्वरका न्याय ही सिद्ध होता है। ऐसे भाववाले भक्तको दण्डसे मुक्त करना ही परमात्माके राज्यका दया और न्यायपूर्ण नियम है। इसीसे भगवान्में दया और न्याय—दोनों एक ही साथ रहते हैं। श्रीगीताजीमें भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(९।३०-३१, १८।६६)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझको निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त (कदापि) नष्ट नहीं होता। इसलिये सब कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक न कर!'

═══ ★ ═══

गीताप्रेसकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५, फोन (०५५१) ३३४७२१; फैक्स ३३६९९७

visit us at: www.gitapress.org | e-mail: gitapres@ndf.vsnl.net.in

१. कलकत्ता- गोबिन्दभवन-कार्यालय; © (०३३) २३८६८९४
पिन-७००००७ १५१, महात्मा गाँधी रोड फैक्स (०३३) २३८०२५१

२. दिल्ली- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; © (०११) ३२६९६७८
पिन-११०००६ २६०९, नयी सड़क फैक्स (०११) ३२५९१४०

३. पटना- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; © (०६१२) ६६२८७९
पिन-८००००४ अशोकराजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सामने

४. कानपुर- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; © (०५१२) ३५२३५१
पिन-२०८००१ २४/५५, बिरहाना रोड फैक्स (०५१२) ३५२३५१

५. वाराणसी- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; © (०५४२) ३५३५५१
पिन-२२१००१ ५९/९, नीचीबाग

६. हरिद्वार- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; © (०१३३) ४२२६५७
पिन-२४९४०१ सब्जीमण्डी, मोतीबाजार

७. सूरत- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; © (०२६१) ३२३७३६२, ३२३८०६५
पिन-३९५००१ वैभव एपार्टमेन्ट, नूतन निवासके सामने; भटार रोड

८. चूरू- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; © (०१५६२) ५२६७४
पिन-३३१००१ ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, पुरानी सड़क (फुटकर बिक्री-केन्द्र)

९. ऋषिकेश-२४९३०४ गीताभवन, गङ्गापार, पो० स्वर्गाश्रम © (०१३५) ४३०१२२

१०. मुनिकी रेती, ऋषिकेश (केवल फुटकर बिक्री-केन्द्र)

११. कटक- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान;
पिन-७५३०१२ भरतिया टावर्स, बादाम बाड़ी

१२. इन्दौर- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; © (०७३१) ५२६५१६
पिन-४५२००१ जी० ५, श्रीवर्धन, ४ आर. एन. टी. मार्ग

१३. हैदराबाद- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; © (०४०) ४७५८३११
पिन-५०००९६ दूकान नं० ४१, ४-४-१, दिलशाद प्लाजा, सुल्तान बाजार

स्टेशन-स्टाल [प्लेटफार्म नं० (कोष्ठ) में]

दिल्ली जंक्शन (प्लेटफार्म नं० १२); नयी दिल्ली (नं० ८-९); हजरत निजामुद्दीन [दिल्ली] (नं० ४-५); कोटा [राजस्थान] (नं० १); बीकानेर (नं० १); गोरखपुर [उ० प्र०] (नं० १); कानपुर (नं० १); लखनऊ [एन० ई० रेलवे]; वाराणसी (नं० ४-५); मुगलसराय जं० (नं० ३-४); हरिद्वार (नं० १); पटना जंक्शन (मुख्य प्रवेशद्वार); धनबाद (नं० २-३); मुजफ्फरपुर (नं० १); हावड़ा स्टेशन (नं० ५ तथा १८ दोनोंपर); सियालदा मेन (नं० ८); आसनसोल (नं० ५); औरंगाबाद [महाराष्ट्र] (नं० १); सिकन्दराबाद [आं० प्र०] (नं० १); गुवाहाटी जं० (मुसाफिरखाना) एवं अन्तर्राज्यीय बस-अड्डा, दिल्ली।